रंगभूमि

भारतीय नाट्य सौन्दर्य

डा० लक्ष्मीनारायण लाल

रंगभूमि
भारतीय नाट्य-सौंदर्य

रंगभूमि
भारतीय नाट्य-सौंदर्य

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल

नेशनल
पब्लिशिंग
हाउस
23, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002

क्रम

शुभारंग	1
भूमि	13
रंगभूमि : सनातन दृष्टि	19
लोक : याभ्यां बिना न पर्याप्ति	29
रूपकत्व और नाटकत्व	40
नाटक : नाट्यकृति	48
रंग रचना और करना	67
कथा प्रबंध : विन्यासस्थान	76
अभिनय	90
प्रस्तुति	103
समापन	113

शुभारंभ

अपनी रंगभूमि की भूमिका

अपनी इस भूमिका का संबंध अपने ही कितने भूले-बिसरे रंगसूत्रों से है, जो हमारी चेतना-भूमि पर बिखरे पड़े हैं। उस बिखराव के बीच खड़े रहकर उन्नीस सौ सत्तर के आस-पास एक बिसरी याद आती इलाहाबाद की, जहां हमने 'नाट्य केन्द्र' से यह स्वप्न देखा था कि एक दिन अपना नाट्य, हिंदी नाट्य, भारतीय नाट्य होगा। वही बिसरी याद नयी दिल्ली में आयी, लज्जित हो गया। उदासी से भर गया। तभी, दूसरे ही क्षण मुझे अपने किसी पुरखे की याद आयी, जिसने कहा, सुनो, भूली-बिसरी याद से ही शुभारंभ होता है। अपनी स्मृति की कालातीत प्रक्रिया का जब वर्तमान में मंथन होता है तो भावी आकांक्षाओं की खोज, किसी नयी रचना-दृष्टि का हेतु बनता है।

स्मृतियों के इसी खिंचाव में पहली बार एक संस्कृत में 'हनुमन्नाटक' पढ़ा। रावण और कुंभकरण के इस दृश्य और संवाद पर रुक गया। रावण कहता है—कुंभकरण उठो, दिन निकल आया है। देखो, राम की पत्नी को मैं ले आया हूं। कुंभकरण पूछता है—उसका भोग किया? रावण जवाब देता है—वह तो किसी तरह काबू में ही नहीं आती। राम के सिवा और कुछ सोचती ही नहीं। इस पर कुंभकरण सलाह देता है कि रावण तुम राम क्यों नहीं बन जाते? रावण बोलता है, सुनो प्यारे,

बालाघन श्यामल नागानां भजतः
ममापि कुटिलो भावोऽपि न जायते।

जैसे ही मैं राम की वेशभूषा धारण करने चलता हूं मुझमें बुरे भाव ही पैदा नहीं होते।

किसी की वेशभूषा धारण करने मात्र से उसकी भावना में चरित्र-परिवर्तन आ जाए, यह किस रूपक और नाट्य का संकेत है, आश्चर्यचकित रह गया।

जैसे-जैसे आदि भरत के नाट्य और शास्त्र का अध्ययन-मनन करता गया, वैसे-वैसे एक बुनियादी बात स्पष्ट होती चली गयी कि हमारी नाट्य-दृष्टि पश्चिम की तरह धर्म-निरपेक्ष नहीं है। हमारी अपनी दृष्टि यह है कि कोई भी कला मूलतः एक कृति है, अतः एक धर्म है। उसका यह धर्म किसी भी तरह जीवन से अलग नहीं है। उसमें सब कुछ सन्निहित है, समाया हुआ है सब — निकाय, [illegible], दर्शक, श्रोता, समय, काल और अवस्था पूरी।

सन् सत्तर के आस-पास, मैं अपनी आत्म-परीक्षण करने लगा कि देखूं मैं क्या काम कर रहा हूं। क्यों कर रहा हूं? किस प्रेरणा और उत्साह से कर रहा हूं? जो नाट्यकर्म कर रहा हूं उसमें मेरी अपनी भूमिका क्या है।

देखा और पाया कि नाट्य क्षेत्र में एक अजीब 'विडम्बनापूर्ण' स्थिति है। नाटक या दृष्टि के नाम पर यहां सब कुछ आरोपित है। थोपा हुआ है — चाहे वह भारतीय नाट्य शास्त्र हो, चाहे पश्चिमी नाट्य शास्त्र। सब कुछ खंड-खंड, छिन्न-विच्छिन्न। सब कुछ इस क्षेत्र में एक-दूसरे से अलग थलग।

इससे बढ़कर और क्या अज्ञानता और मूर्खता हो सकती है कि भारत में जन्म लेकर, यहां जीकर नाट्यकर्म भी कर रहा हूं पर भारतीय नाट्य-दृष्टि से ही अपरिचित हूं।

जरा सोचिए, विचार कीजिए, ऐसा व्यक्ति क्या रचना-सृजन कर सकता है, जिसे अपना वर्तमान (परिवर्ती) सिरा तो दिख रहा है, लेकिन उसे अपना पहला सिरा ही न दिखा हो? चाहे वह कितना ही सोच-विचार करे और कितना ही तलाश और खोज में फिर क्यों न लगाये, उसको अपने नाट्य और रंग ज्ञान का सीधा और सच्चा मार्ग न मिलेगा, क्योंकि उसे आरंभ न हो (आधुनिक काल) 'ओडिपस ड्रामा' का आत्यंतिक अंधेरा दिख गया है। फलतः उसे अंधकार के सिवा और कुछ न दिखेगा।

पर जिस व्यक्ति को अपने सिरे का ज्ञान हो, और अपने गुणों की पहचान हो, वह इसी तरह अपने ज्ञान के आदि सिरे को जान सकता है और उसकी वर्तमान अवस्था को। वहां अपने मनन में सम्पूर्ण यह अनुभव कर देख सकता है कि जिस ड्रामा-थियेटर के पैमाने पर वह अपने नाटक को मरोड़, विपन्न कर रहा है या अपने औपनिवेशिक मानस के कारण जिसको अपनी संस्कृति का पैमाना बनाये हुए है, जिसके कारण वह अपनी जड़ों से कटकर 'विघटनशील' नाट्य प्रगति की सम्भावना का शिकार हुआ है, वहीं उसकी असली दरिद्रता है। और जो अपनी रंगभूमि की मानसिकता, नाट्य सौंदर्य-दृष्टि, आत्मविश्वास उससे छीना गया है, और जिसकी तरफ उसका ध्यान नहीं है, वही उसकी मूल दरिद्रता है।

जीवन नाट्य के प्रसंग में उनके ड्रामा-थियेटर-ज्ञान से मुझे स्पष्ट हुआ कि वे योजनापूर्ण ढंग से हमें आधुनिकता की जो दीक्षा देते हैं, उससे इस तरह हमारा मन बनाते हैं कि जो तुम्हारा था, वह तो प्राचीन था, उससे अब तुम्हारा क्या मतलब? तुम्हारी मुक्ति प्राचीन से कटकर, परंपरा-त्याग से आधुनिक बनने में ही है। अर्थात् वे हमें आधुनिक बनाने के लिए आधुनिक नहीं बनाते, मूर्ख बनाते हैं कि तुम आधुनिकता के नाम में पश्चिम पर अवलंबित रहो।

इस प्रकार मैं उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से वर्तमान समय तक, अपना युग संदर्भ और रंग देखें तो स्पष्ट होगा कि स्थापित ऐतिहासिकता, वैज्ञानिकता तर्कबुद्धि की जो एक प्रवृत्ति है वह निश्चित ढंग से रूपकत्व के स्थान पर वस्तु को, नाटकत्व के स्थान पर गति को ही महत्त्व देता है। ठीक इसके विपरीत अपने रूपक का जो नाटकत्व है, उसका मूल तत्त्व है प्रभावात्मक अनुभव। इसीलिए तो कुमारस्वामी के शब्दों में पश्चिम में विज्ञान है, पूर्व में प्रज्ञा।[1]

जब तक मुझे अपनी रंगभूमि, अपने नाट्य, अपनी रंग-दृष्टि का आभास न था, तब तक नाटक और रंगमंच के नाम पर भारत में जितना कुछ राष्ट्रीय स्तर पर ड्रामा-थियेटर का प्रदर्शन हो रहा था, उसका मैं एक मुग्ध दर्शक था। मेरे लिए वह एक ऐसा औपनिवेशिक-ऐतिहासिक नाटक था, जो खेला तो जा रहा था भारत देश में, पर लिखा था जैसे लंदन में बैठा किसी अंग्रेज ने लिखा था।

मैंने देखा और अनुभव किया है कि सुनियोजित ढंग से आज़ादी के आस-पास संपूर्ण स्वाधीनता हम पर लादी जा रही थी। नेहरूकाल का स्वतंत्र भारत बड़े उत्साह और जोश के साथ पश्चिम के आधुनिक थियेटर-ड्रामा, और उसके शास्त्र का आज्ञाकारी ढंग से अनुकरण कर रहा था। उसमें मुझ जैसे लोग भी थे। उस दौर में बुजुर्ग रंगकर्मियों के नाम नकली पश्चिमी, ऐसी बहुत सारी चीज़ें हमने सीखीं, जो हमारी भिन्न प्रकृति और नाट्य प्रकृति से बिल्कुल भिन्न थीं। इस पर तुर्रा यह कि हमारी यह सोच बन गयी थी कि हमारे भारतीय नाट्य की शुद्धता उसी नकल में है। हम जब हिंदी नाटक लिखते थे तो हमारे ज़ेहन में पश्चिम के रंग-निर्देश, मंचशिल्पी और उनका शास्त्र होता था। हमने जहाँ-कहीं प्रशिक्षण केंद्र देखा, वहाँ अंग्रेजी थियेटर, मंच, प्रकाश, अभिनय, निर्देशन के ही आधार पर प्रशिक्षण पाते लोगों को देखा। चाहे हिंदी नाटक हो, चाहे संस्कृत, चाहे शास्त्रीय, चाहे लोकधर्मी, सबका निर्देशन और प्रस्तुतीकरण उन्हीं अंग्रेजी किताबों में दिये गये आदेशों के हिसाब से।

1. [illegible]

इतना पतन हो चुका था हमारा ।

अंग्रेज़ी नाट्य प्रदर्शनों में, निर्देशनों में भूमिका, प्रदर्शन, चीखने, चिल्लाने, एका- एक दृश्य जोड़ना, नृत्य और गीत को खींचकर चरम सीमा पर ले जाकर सस्ते से लोड़ने और लंबा [illegible] फिर हर सम्वाद पर बोलने पर अधिक बल देना कि हम आनंद से भर जायें। यह कैसा ड्रामा है, या कैसा ड्रामा, जिसके प्रदर्शन, निर्देशन के सारे तत्त्व नकली; शिवाजी, शेक्सपियर, शिकागो जो विभिन्न पारसी थियेटर के रास्ते हमारे तथाकथित आधुनिक रंगमंच पर आये ।

जब अपने भारतीय नाट्य को पढ़ा और ईश्वर कृपा से अपनी रंगभूमि को जाना तो यह अनुभव कर दंग रह गया कि अपने नाट्य और रंगभूमि में कहीं कोई ऐसा विभाजन नहीं, जिसको नहीं समझा। स्थान, काल और अभिनय की इकाई न, कहीं कोई [illegible] है [illegible], अर्थात् [illegible] है। सर्वत्र एकलयता, सांगीतिकता, छंदता, और अवांछनीयता [illegible] जिसे लाक्षणिक कहते हैं। क्योंकि, चाहे युद्ध हो, यहाँ तक कि [illegible] हो, सबमें कला-आस्वादन है। सौंदर्य है।

[illegible] अपना रंग क्या है। उसमें कितनी ऊर्जा और आत्मविश्वास और आत्मसम्मान है। [illegible] में रंग है तो एक आयामी, पर उस एक रंग को दर्शकों की इतनी आँखें एक साथ देख रही हैं तो दर्शकों की इतनी आँखों के इतने रंग मिल कर उस एक रंग को बहुआयामी, बहुरूपी बनाते हैं।

कैसे ?

क्यों ?

अपनी 'भूमि' के कारण। अपने चिंतन की बनावट के कारण, स्मृति और अनुभूति स्वभाव के कारण।

लेकिन 'रंगभूमि' पर दो घटनाएँ घटीं। पहली घटना है इस भूमि पर सात सौ वर्षों का मुसलमानी राज्य। जिसके कारण प्रधानतः रंगभूमि पर पक्षाघात रहा। दूसरी ओर [illegible] और [illegible] संगीत के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति देती रही। [illegible] नगर केंद्रों से दूर, भारतवर्ष के सुदूर अंचलों, जनपदों और उनकी बोलियों में, [illegible] लोकधर्मी नाट्य रूपों में, जीवित रहे। कहीं धर्म के [illegible] कहीं [illegible] और कहीं [illegible], कहीं [illegible] कहीं [illegible] के रूप में कहीं [illegible], [illegible] और कहीं शुद्ध-अशुद्ध मनोरंजक के रूप में। पर आज इन सब लोकरूपों [illegible] रहे हैं, जिन्हें स्वर्गीय श्री जगदीशचन्द्र माथुर ने परम्पराशील नाट्य मानने का प्रयत्न किया है। जिससे 'लोक' और 'शास्त्र' में बुनियादी अंतर और समाज में भ्रांति पैदा हुई है। [illegible] उन्नीसवीं सदी के अंत में अंग्रेज़ी [illegible] से कराई गई।

दूसरी घटना है भारत में अंग्रेज़ी राज्य। एक ऐसा अभूतपूर्व राज्य, जो अपने देश और दूसरे देश के बीच एक अनिवार्य विरोध और भेद मानता है। तथा अपनी

ताकत से दूसरे देश-राष्ट्र को नष्ट करने में खुद अपने भीतर वास्तविक राष्ट्रीय सत्त्व का विनाश है, बिल्कुल नहीं मानता।

सृष्टि ने एक अखंड देश की सत्ता मानने वाले भारतवर्ष के लिए यह एक अकल्पनीय अनुभव था और उस स्तर पर यह एक अभूतपूर्व मानसिक बौद्धिक आघात भी। उस अनुभव को हम बौद्धिक रूप से ठीक-ठीक समझें-बूझें कि इसके पहले हमें सिर से दबोचकर हीनता में झुलवा कर दिया कि हम [illegible]। फलस्वरूप हम अंग्रेज बनने की होड़ में शुरू से ही अंग्रेज जीवन मनोवृत्ति के आहत पराई, पश्चिमी विचार, जीवन संरचना, कला-दृष्टि को अपनाने के लिए विवश हो गये।

इसी प्रक्रिया में भारतवर्ष में औपनिवेशिक दबाव के नीचे हिंदी, भारतीय नाट्य की, अपने मूल से कटी, उखड़ी हुई एक अभूतपूर्व शुरुआत हुई। स्वभावतः यह नयी शुरुआत बिल्कुल यूरोपीय ढाँचे पर हुई। भारतीय समाज को मानसिक धक्का न लगे, लोग अंग्रेजी चाल को समझ न जायें, इसलिए यह काम पारसी थियेटर के पर्दों के पीछे से योजनापूर्ण ढंग से बड़े [illegible] ढंग से किया गया। इसमें राष्ट्रीयता, अतीत, गौरव, भारत नवोत्थान, पुनर्जागरण आदि के तमाम लड्डू बाँटे गये। सनातन धर्म, आर्य समाज, गांधी जी आदि के अनेक पताके, परचम फहराये गये और पूरे देश को अंग्रेज राजनीतिक चाल से अनभिज्ञ रखने के लिए शत-शत कंठों से भारतमाता की जै-जैकार कराते रहे।

इसके खिलाफ अगर अकेले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की भारतीय रूपक, भारतीय नाट्य की आवाज और लहर उठी तो उसे किस तरह सुनियोजित ढंग से, नव अंग्रेजी पढ़कर निकले हुए गुलाम बुद्धिजीवियों द्वारा दबा दी गयी—इसके तमाम प्रमाण उपलब्ध हैं। और यही आज तक हो रहा है — कहीं ज्यादा बड़े पैमाने पर।

सबसे दिलचस्प सलोनापन हुआ यह कि भारत और पश्चिम की दो परस्पर अलग नाट्य परंपराओं की कभी कोई मुठभेड़ ही नहीं हुई। दोनों के बीच में पारसी थियेटर के बिचौलियापन से एक घुटनाटेक समन्वय का रास्ता तैयार हो गया। क्योंकि बीसवीं सदी आते-आते केवल रवीन्द्रनाथ ठाकुर को छोड़कर देश की किसी भी भाषा में खासकर, हिंदी में, कोई एक भी नाटककार नहीं हुआ जो कोई सर्जनात्मक सार्थक समन्वय का रास्ता ढूँढ़ सके। इसका मुख्य कारण, पराजित मनोवृत्ति और अपनी रंगभूमि के मूल से उच्छिन्न हो हमने अपने रूपक, अपने नाट्य को पश्चिम से हीन और अविकसित मानकर अंग्रेज राजा के ड्रामा-थियेटर की सपाट नकल की कोशिश की। और उसे अपने नाम दे दिए—ड्रामा को नाटक नाम, थियेटर को रंगमंच नाम।

इसके, मेरे ख्याल से आधुनिकता को लेकर जिस तरह के विचार, जिस तरह की धारणाएं और बहाने हमारे यहां पनपी, उसमें कई तरह की और गड़बड़ियां पैदा

हुई। आधुनिक नाट्य कलाधारा में हमारे यहां एक क्रांति के साथ पश्चिम से जो चीजें आयीं, वह हमारी नहीं थीं, हमारे बोध से मेल नहीं खाती थीं। पश्चिम की रंगकला को ही आधुनिक और प्रासंगिक मान लेने के कारण जैसे हमने अपने चारों तरफ, अपनी धरोहर की तरफ देखना छोड़ दिया या बहुत कुछ अनदेखा कर गये। हमारी दृष्टि धुंधली हुई। हमारी रचनात्मकता के तनावों को भी चोट पहुंची। नाट्यकला की रचना के संदर्भ में देश, समय (स्पेस) में वर्जन किया गया। इस प्रकार हम एक ऐसे संसार में विचरने लगे जहां सब कुछ नाटकीय तो है। यहीं आकर ऐतिहासिक दायित्व से जोड़ता रंग कला तथाकथित तात्कालिक सार्थकता या प्रयोजन का दास बना। मानव जीवन के प्रति हम दायित्व की बात बजाय होने लगी, जो हममें बाहर थीं।

इस स्थिति में दबकर और काफी हद तक असावधानवश, हमें लगने लगा कि पारम्परिक नाट्य, भारतीय रूपक, भारतीय नाट्यशास्त्र हमारे लिए एक ऐतिहासिक बोझ है। जबकि वैदिक रूप में पश्चिम का ड्रामा-थियेटर हमें बोझ लगना चाहिए था। जो वास्तव में बोझ है, गुलामी है, सीमा है, उसकी जगह अपना स्वातंत्र्य, अपना सौंदर्य, अपनी अस्मिता, बोझ और गुलामी लगने लगे। यहां तक कि गुलाम मन, औपनिवेशिक बुद्धि जो अंग्रेजी देन है, जो अपनी आत्मिक दुर्बलता को इतिहास पर आरोपित कर हमें भारतीय मूल से अविच्छिन्न करने का सतत प्रयत्न करती रही है। क्योंकि उसे मालूम है कि दो सौ वर्षों के अंग्रेजी शासन के बावजूद भारतीय रंगमूल्य कहीं-न-कहीं अब भी मौजूद है। यह रंगभूमि अभी तक बंजर नहीं हुई, पश्चिमी दृष्टि की पारस्परिक आशंका की बड़ी चिंता है यह।

उन्नीसवीं सदी में पश्चिमी ड्रामा और थियेटर का जो रूप उस समय भारत में ले आकर आरोपित किया गया, वह योरोप का यथार्थवादी प्रोसीनियम थियेटर था। वह कहीं आज भी हमारे आयोजन में शून्य खालों चाबुक में टिका बैठा हुआ है। लेकिन इस बीच हमारी अपनी सांस्कृतिक जड़ों की पुनर्खोज स्वभावतः इस पश्चिमी, आरोपित ड्रामा-थियेटर की गुलामी तोड़कर उसकी सीमा का अतिक्रमण नहीं कर पा रहे हैं। कारण यह अपना है ही नहीं, उसे केवल अपने कंधे से उतार फेंका जा सकता है। फिर भी कंधे पर बोझ की स्मृति लिये हुए इसमें स्वभावतः न कोई परिवर्तन लाया जा सकता है, न इसमें कोई प्रयोग किया जा सकता है।

इस बोझ को न उतार फेंकने के पीछे एक गहरा कारण है। हमारा तथाकथित आधुनिक नाट्य, अपने पारंपरिक नाट्य के उन 'लोक' से कटा हुआ हुआ है, जिनके अनुभव के सामने कोई भी कालबोध और देशबोध दोनों अपनी भूमि पर आकर हम जीवन और आलोकित कर जाते हैं। इसी का नतीजा यह कि इसने किसी भी सीमा और संकीर्ण देश का अतिक्रमण करके देखना अपना लक्ष्य माना है। वर्तमान में रहते हुए, उसकी प्रवहशीलता का प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए

भी उसका अतिक्रमण करना, यही हमारी परंपरा की पहचान रही है।

पर आधुनिक भारत, स्वतंत्र भारत में भी अपने अतीत की उपलब्धियों, उसका अतिक्रमण करने की क्षमता नहीं रही। ठीक इसके विपरीत बीसवीं सदी के प्रारंभ से लेकर वर्तमान समय तक, योरोपीय नाट्य में अपनी सांस्कृतिक जरूरतों और जीवन से संबंध के कारण तथा उनके [illegible] कल्पक रचनात्मक, वैचारिक, सौंदर्यात्मक दृष्टि से लगातार परिवर्तन और अपनी सीमाओं का अतिक्रमण होता रहा है। योरोप ऐसी तमाम नाट्य अवधारणाओं, तत्वों को सफलतापूर्वक आत्मविश्वास के साथ अपनाता गया है, जो उससे बाहर हुए (भारत, चीन, जापान, अफ्रीका आदि) के हैं। ऐसा वह इसलिए कर सका और लगातार करता जायेगा, क्योंकि वह अपने ग्रीक-थियेटर के युग से अबाध ढंग से आदि से वर्तमान तक, विचार, कर्म और आत्मविश्वास के साथ सर्जनात्मक ढंग से जुड़ा हुआ है। उसका अतीत है, तभी उसमें आत्मविश्वास है।

इसी आत्म अभाव के कारण भारतवर्ष वैसा कुछ नहीं कर सका। भारत अपने ही उत्तरों अपने लोक, अपने [illegible] करीब पूर्वी देशों के नाट्य तत्वों और अवधारणाओं को नहीं अपना सका। जबकि भारतवर्ष के लिए औपनिवेशिक बोझ उतार फेंकने और अपनी 'भूमि' पर स्वाभिमानपूर्वक खड़े होने के लिए यह अनिवार्य था।

[illegible] उदय हुआ। आजादी मिलने के बाद हम लोगों को [illegible] योरोपीय ड्रामा-थियेटर की नयी समृद्धि, प्रयोगों, परिवर्तनों की ओर देखा और हम नये सिरे से एक दोहरी गुलामी के रंगजाल में फंसे। कुछ अपवादों को छोड़कर किसी भारी कोशिश ने भी यहीं अजनबीपन बरकरार रखा और यहीं से लोगों को इस बात का पूरी तरह अहसास हो गया कि भारतीय नाट्य को सार्थक होने के लिए उसे अपनी परंपरा से जोड़ना होगा। लेकिन इसमें भी उपरोक्त कोई आंतरिक सर्जनात्मक [illegible] स्थापित न हो सकी। और यह भारतीयता विदेशी दर्शकों के लिए चाहे जो हो, भारतीय दर्शकों को उतनी ही अजनबी और ओढ़ी हुई लगी।

अपनी भारतीय नाट्य-दृष्टि क्या है, खोजना और उसको देखने, अनुभव करने की इसी अनिवार्यता ने मुझे इस ओर प्रेरित किया। अपने गुरुओं ने मुझे यह विश्वास दिया है कि अतीत की, आत्म की स्मृति, मनुष्य को [illegible] स्वाभिमानपूर्वक आगे बढ़ने में बड़ा सहायक होती है। जो अपने अतीत को भूल जाता है अपनी आदि स्मृति से कट जाता है, उसका कोई भविष्य नहीं होता, क्योंकि उसे अपने वर्तमान से जुड़े रहने का कोई आत्मविश्वास नहीं प्राप्त होता।

हमें मनोविज्ञान और तत्त्वज्ञान भी बताता है कि मनुष्य में ऐसे कुछ मूल हैं, अतीत से चले आते हैं। वनस्पति जो है, वृक्ष में जड़ जो है, हम कितना भी गहरे जायें, जड़ की समाप्ति दिखायी नहीं देती। परन्तु हर फूल में उसका मधु है, जो हर फूल में उसकी गंध, उसका रूप है। दिखायी न देने पर भी हर पल्लव में हर फूल में, हर फल में वह है। उतना रस, उतना मधु नहीं हो सकता, अगर वह जड़ न होती। उस जड़ को काटकर हम चाहे सोने में मढ़ दें, चाहे हम संगमरमर के थाल में रख दें, लेकिन वृक्ष सूख जायेगा। ऐसा ही कुछ मनुष्य का है। जातियों का है, राष्ट्रों का है।

भारतीय नाट्य के मूल का अभिज्ञान, अपनी जड़, अपने मूल से जुड़े रहना, कोई साधारण कार्य नहीं है। बड़ा ही संश्लिष्ट और समस्याओं से भरा है। अपनी नाट्य-परंपरा का सहज, अबाध विकास, जैसाकि पश्चिमी ड्रामा का रहा है, उसमें जुड़े रहना उतना ही सहज और स्वाभाविक है। पर किन्हीं ऐतिहासिक कारणों से अपनी नाट्य-परंपरा की कड़ी टूट जाने से जैसाकि भारतीय नाट्य का रहा है, उसमें एक भारी अंतराल के बाद उसे पुनः खोजकर, शोधन कर उसके साथ अपने को नये सिरे से जोड़ना, और अपने आपको उसके भीतर से प्राप्त करना, बड़ी कठिन बात है। खासतौर से पिछले डेढ़ सौ वर्षों से उससे मुंह मोड़कर हमने उस पराई चीज से अपना गुजारा करना चाहा, जो पश्चिम के इस अंधविश्वास पर टिका है कि ड्रामा थियेटर और तत्संबंधी विचार, अपने इतिहास क्रम में हर प्राचीन मध्ययुग की पंक्तियों को पीछे छोड़ता हुआ लगातार विकास करता चला गया है। जो महत्त्वपूर्ण है वह आधुनिक काल से ही है। सारा पिछला, वर्तमान आधुनिक के सामने अप्रासंगिक, अर्थविहीन है। इस अज्ञान का भयंकर प्रभाव, भारत की अस्मिता और नाट्य-कर्म पर तो पड़ा ही है, इस अंधविश्वास के दूरगामी दुष्प्रभाव से स्वयं पश्चिम का आधुनिक थियेटर भी नहीं बच सका।

आज वर्तमान भारतीय जीवन के हर क्षेत्र में जो भ्रम, भ्रांति धोखा-धपला-बाजी छायी हुई है, उसकी बुनियाद में वही पूरब-पश्चिम की परस्पर विरोधी अन्तर्विरोधी जीवन-दृष्टि है।

उदाहरण के लिए, नाट्य बनाम ड्रामा थियेटर का बुनियादी अन्तर्विरोध और परस्पर विरोध लें।

दास संस्था पर आधारित करने वाली यूनानी समाज व्यवस्था को ऐसे ड्रामा की जरूरत थी, जो गरीब, गुलाम, मजदूरों की विशाल भीड़ को नियंत्रित और दास स्वामियों से निर्मित मुट्ठी भर प्रजातंत्र के प्रति निष्ठा के कठोर बंधनों में जकड़कर बांधे रख सके। उन दास स्वामियों के शासन और नियतिवादी जीवनदर्शन को प्रचारित करने वाले (अभी तो पश्चिम के ड्रामा के पहले अंक का नाम है '[illegible]') यूनानी नाटककार, आगे चलकर इसी काम में अपने बढ़ते हुए

समय की माँग के अनुसार इलिजाबेथन नाटककार अपने नागरिकों को यह विश्वास दिलाना चाहते थे कि आम, साधारण नागरिक का रहना ही बेहतर है। क्योंकि कुछ लोग, खासकर वर्ग, न सिर्फ राजतंत्र के लिए खतरनाक हैं बल्कि वे स्वयं अधार्मिक और अनैतिक लगाव के शिकार हो जाते हैं और परिणामतः उन्हें 'पाप', 'दंड' और यहाँ तक कि मृत्यु-दंड की सजाएँ भोगनी पड़ती हैं। इसी से पश्चिम के ड्रामों में पुरातन काल से लेकर वर्तमान समय तक उनकी चेतना के केंद्र में यही संघर्ष और नाटकीय विचार है, चाहे वह 'फार्म' आधुनिक हो क्यों न हो।

इसलिए चरित्रों के बीच अपनी इच्छाओं के लिए, परस्पर सतत संघर्ष, उनके मनोभावों में परिवर्तन, उनके जीवन व्यापार में चमत्कार, विश्वासघात, मृत्यु, विनाश भाव की धुरी पर स्वभावतः पश्चिमी ड्रामा-थियेटर की संरचना हुई। और उन्हें अपनी विशेष पहचान और अधिक प्रतिष्ठा मिली। उसी अनुसार उनके थियेटर-हॉल बने, ग्रीक थियेटर, आधुनिक थियेटर। उसी अनुसार उनकी 'एक्टिंग', 'डिजाइन', प्रस्तुतिकरण कलाएँ विकसित हुईं और लगातार हो रही हैं।

और हम निश्चितः अनिवार्यतः उनके ड्रामा-थियेटर के प्रत्येक अंग की नकल करने में लगे हुए हैं।

यह दासता, यह मजबूरी तभी खत्म होगी जब हमें अपनी रंगभूमि की चेतना प्राप्त होगी। अपनी चेतना अनुभव करेंगे कि भारतवर्ष में नाटक की मूल अवधारणा और उसका विकास पश्चिम के उन ड्रामों, एलिजाबेथन थियेटर से सर्वथा भिन्न, किसी दास स्वामी राजा के द्वारा नहीं, बल्कि स्वतंत्र कलाभिलाषी समाज द्वारा हुआ, जिसमें मुनिश्रेष्ठ, सम्मानित राजन्यवर्ग के लोग, कलागुरु, पुरोहित, श्रोत्रिय और तमाम अन्य धर्मों पर आत्मानुशासित लोग शामिल थे। यह नाट्य पुरुष वर्ग अपने समुदाय, समाज और अपने ही लोगों के लिए था, इसलिए उनके ही थोड़े लोगों को दर्शक नहीं, प्रेक्षक की संज्ञा मिली। इसमें धर्मसम्मत काम-सौंदर्य का निर्देशित लोक स्थापित (प्रकट नहीं) होता था। हमारा नाट्य पद्धति पूर्णतः नहीं, अभिनय, संगीत और मानवीय संस्कार देने वाला रूपक है। इसमें कथा, काव्य, संगीत की ऐसी स्वाभावी अवधारणा है जो नाट्यकार, अभिनेता, प्रेक्षक—इन तीन अंगों को एक ही सृजनात्मक प्रक्रिया में रसास्वादन की एक इकाई में सहज जोड़ देती है।

एक दिन मुझे अपनी इस रंगभूमि का वास्तविक रूप ही आभास मिला, उसी दिन अनुभव किया कि संसार का सबसे अधिक सुंदर, प्रभावशाली शब्द 'रंगभूमि'

मैंने सुना। लगा कि मैं भारतवर्ष की नाट्यात्मा देख और सुन रहा हूं। वर्षों बाद उसका दर्शक, सुमनस, भावक, रसिक, नायक हुआ हूं। मुझे मेरा खोया हुआ आत्मविश्वास मिला है कि हिंदी क्षेत्र में किसी नाट्य-परम्परा का अभाव एक तरह से अनुकूल परिस्थितियां हैं, जिसमें अपनी 'शैली' एवं अपना 'रंग' कोश, बनाया जा सकता है। अपने इस रंगकर्म में हमारा यह प्रयत्न भी है कि विस्मृत नहीं होगा कि कृष्ण-शिखर अतिरम्य कीर्तन है। 'रंगभूमि' मुक्त नर्तन है।

रंगभूमि, कविता में अभिनय की वापसी का कोई कुतूहल नहीं है। आत्मा सबकी ही नहीं है। वस्तुतः जीवन के बाहर का अहसास है, जो ज्यादा-से-ज्यादा प्रार्थना या कविता का रूप धारण करता है।

यह वास्तविक यथार्थ है कि रंगकर्म, देश और काल सापेक्ष होता है। जैसा देश-समाज होगा, जैसी उसकी अर्थव्यवस्था होगी, उसी अनुरूप उसका रंग-बोध होगा। इस वास्तविक यथार्थ की चुनौती को हम जानते हैं। पर विकास के नाम पर वास्तविक यथार्थ के साथ उसके अतीत से भविष्य को भी उसमें जोड़ने का जो प्रयत्न हो रहा है, वह कुटिलतापूर्ण है, क्योंकि वह राजनीतिक है।

जिन अधिकांश लोगों ने अपनी भौतिकी विचार दृष्टि से आधुनिक भारतीय जनता को अपने विकासवाद के दर्शन से परिभाषित किया है, उन्हीं के नेक-चाहे भारतीय रंगदेश में पश्चिमी दृष्टि और मानदण्ड से 'विकास' और 'प्रयोग' की अंधी पूजा होती है।

इस परिप्रेक्ष्य में अपने रंगकर्म के लिए नये रास्तों को खोजना, हमारे लिए अनिवार्य हो जाता है। वे ऐसे रास्ते होने चाहिए कि उस पर चलते हुए भारत के लोगों की स्वाभाविकता और वैविध्यपूर्ण विधायक पहल को नाट्य-क्षेत्र में फलने-फूलने का मौका मिल सके। ऐसी स्थितियां बनानी होंगी, जिसमें भारत के विभिन्न क्षेत्रों के लोग अपनी परंपरागत रंगभूमि की जानकारी और क्षमताओं को स्थानीय और राष्ट्रीय जरूरतों को पूरा करने के प्रयास में लगा सकें। अपनी भूमि पर अपने रंग में रंगमंच-विधान को इस तरह विकसित करना होगा जिससे हमारा खोया हुआ आत्मविश्वास हम फिर से प्राप्त हो। तभी आत्मविश्वास के साथ हम दुनिया के साथ बराबरी के स्तर पर संवाद कर सकेंगे। किंतु हां इस वास्तविक यथार्थ को सदा ध्यान में रखना होगा कि रंग क्षेत्र के किसी भी प्रयोग तथा विधान को गांव भारत के लोगों के पास पहले से उपलब्ध ज्ञान और अनुभव के आलोक में डाला जाए। अपनी जानकारी और क्षमताओं की ही भूमि पर हम कोई रंग-रूप विकसित कर सकते हैं।

हमें ऐसी व्यवस्था भी इस क्षेत्र में करनी होगी कि भारत के सभी रंगभूमियों

के लोग एक-दूसरे के करीब आयें, और हम पर ड्रामा और थिएटर ने जो आसमान का बोझ लादा है, उसे अपने सिर से उतारकर फेंक दें और ऐसे रंगकर्म की सृष्टि में जुट जायें, ताकि ड्रामा-थिएटर ने जो यह अपमान के अहसास की स्मृति तक मिट जाये।

अपनी रंगभूमि की पुनर्प्रतिष्ठा का अर्थ यह नहीं है कि हम शेष दुनिया से कट जायें। रंगभूमि प्रतिष्ठा का अर्थ यह है कि आत्मसम्मान के साथ दुनिया के रंग-कर्म से, भाईचारे के भाव को अपनी जगह जीवित रखते हुए, भारतीयता और उसकी विभिन्न अभिव्यक्तियों को उभरने का मौका दिया जायेगा।

यह तभी संभव हो सकेगा जब भारत अपनी रंगभूमि पर अपने ही पैरों से खड़ा हो सकेगा। और अपनी देखभाल स्वयं कर सकेगा। अगर ऐसा कर सकेगा तो केवल अपनी अस्मिता के आधार पर।

अपनी रंगभूमि

अपनी अस्मिता।

अगर अपनी अस्मिता से हम रंगकर्म में जायेंगे तो जितना हम देश के लिए काम आयेंगे उसी अनुपात में दूसरे देशों के भी रंग क्षेत्र में हम काम आ सकेंगे।

आज़ादी काल के दौरान भारतीय समाज के दबाव और उद्देश्य कुछ इसी तरह के हुआ करते थे। फिर हम अकस्मात् प्रभाव के समन्दर के आस-पास कुछ तरह से भटक गये। भारत और पश्चिम का समन्वयवाद इस भटकन की जड़ नहीं थी, जिसमें फिर से पहले हम उसका अंदाज़ ही नहीं लगा सके। जब हम आज़ादी के बाद फिर से अपनी भारतीय पहचान निकले तब भी उसी समन्वयवाद के कारण, हमारे पास अपनी रंग दुनिया का कोई सम्यक् अनुभव नहीं था।

आज मैं अपने-आप से प्रश्न करता हूँ कि क्या हम इसी अनुभवहीनता से रंग पथ भ्रष्ट हो गये, या कि हमारे सम्पूर्ण जीवन-चिन्तन में ही कहीं कोई ऐसा विकार आ गया, जिसे हम समझ ही नहीं पाये। और हम अपने स्थान विचार का अपने नाट्य रूप व वर्तमान ड्रामा थिएटर की वास्तविकता से किसी तरह से जोड़ ही नहीं सके। या कि गुलामी की लंबी रात और स्वतंत्रता प्राप्ति के उत्साह भरे दिनों के बाद अचानक हम आधुनिकतावाद के तूफान में इस तरह उखड़ गए ही जाना ही हमारे लिए स्वाभाविक था? इन प्रश्नों का शायद एक ही उत्तर है कि इस तरह के अस्वाभाविक ऐतिहासिक दौरों के गुज़र जाने के बाद किसी भी समाज के लिए दुबारा अपनी सहज जीवन की धारा को पकड़ पाने में कुछ समय लगा ही करता है।

यही समय मेरे जीवन में आया, थिएटर में अपनी रंगभूमि पर आने का। इसी परिप्रेक्ष्य में मुझे भारत और पश्चिम — इनकी विभिन्न नहीं, परस्पर विरोधी रास्ता-

नाओं को समझने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इसी प्रक्रिया से गुजरकर मुझे 'मॉडर्न-थिएटर' और उसमें उपजी भारी प्रस्तुतीकरण कलाएं, निर्देशन, अभिनय और दर्शकों को एकनिश्चित लक्ष्य में बांध रखने की तकनीक के पीछे की मूल प्रवृत्ति की भी जानकारी मिली। मुझे अनुभव हुआ कि सब चीजों की तरह रंग और नाट्य, उनकी पूरी शिल्प-विधि, तकनीक और विज्ञान, देश और काल सापेक्ष होते हैं। कोई देश, कोई सभ्यता, चाहे कितनी निरपेक्षता की बात क्यों न करे। यह वास्तविक यथार्थ है कि जिस तरह भारतीय रंगदृष्टि का मूल उद्भव और विकास भारत की विशेष सभ्यता के साथ जुड़ा है, ठीक उसी तरह, भारतीय रंगदृष्टि से बिल्कुल अलग, सर्वथा भिन्न पश्चिम की थिएटर-ड्रामा दृष्टि उनकी अपनी विशेष सभ्यता के साथ जुड़ा है।

अपनी रंगभूमि की जड़ें कहीं गहरी हैं और रंगभूमि के विषय में हमारी जानकारी उतनी ही कम है।

नए सिरे से उसकी जानकारी के साथ-साथ हमें उसके प्रति भारतीय मानस और विवेक को जगाना होगा। पर यह जागरण अपनी रंगभूमि की एक खुशफहमी मात्र से संभव नहीं। ऐसी खुशफहमी गांधी ने स्वराज के दिनों में चरखा, छप्पर, चक्की, कोल्हू, बकरी आदि भारतीय जीवन के अपने उपकरणों से पैदा की थी। और उससे एक बड़े उद्देश्य की पूर्ति हुई थी। पर स्वतंत्रता मिलते ही अपने इन देसी उपकरणों की कोई मांग नहीं रही।

रंगभूमि ऐसी कोई खुशफहमी नहीं। यह आत्मचेतना है, जिसे निरंतर सजगता और रचनात्मक स्थापना से हर क्षण गुजरना होता है। जिसके द्वारा आज हम अपनी अंतर्निहित संस्कृति के प्रश्नों का समकालीन रूप, मानवीय और स्वतंत्र विकास प्रस्तुत कर सकते हैं, जो हमारी संस्कृति की सनातन और मूल मर्यादाओं में पहले से ही मौजूद है।

—लक्ष्मीनारायण लाल

नई दिल्ली
18 मई, 1987

भूमि

पिछले इतने समय तक नाट्यप्रसंग से जुड़े रहते हुए मेरी समझ में यह नहीं बैठता था कि 'रंग' के साथ 'मंच' का भला क्या संयोग है? आधुनिक होने और आधुनिक बने रहने, कहलाने के भ्रम और मोह में कभी यह नहीं सूझा कि रंगमंच पश्चिम के थियेटर का अनुवाद है, फिर भी हम यह कैसे कहते हैं — भारतीय रंगमंच, हिंदी रंगमंच, अपना रंगमंच। जो विदेशी अनुवाद है अपने शाब्दिक अर्थ में ही, वह अपना कैसे हो सकता है? हां, केवल 'मंच' 'थियेटर' का अनुवाद हो सकता है। पर 'मंच' के साथ जो 'रंग' जुड़ा है, वह 'रंग' तो 'थियेटर' की परिकल्पना में ही नहीं है। वह रंग 'ड्रामा' में संभव ही नहीं है। 'रंग' ड्रामा के क्षेत्र के बाहर की चीज है। ड्रामा जमीन पर, यथार्थ पर, तर्क पर, जिन्दगी पर ही आधारित है। जमीन पर कभी 'रंग' नहीं किया जाता। रंग तो भूमि का तत्त्व है। मंच का रंग से कोई सरोकार नहीं हो सकता। रंग का सरोकार केवल भूमि से होता है। रंग ही भूमि है। भूमि ही रंग है। यह कहां पता था?

सुनि सपु बोल सोहि दृग गावा ।
काहु न मोहि कहि प्रथम जनावा ।।

पर यह बुनियादी बात हमें कोई क्यों बताता? जिस आधुनिक राज व्यवस्था में हम थे, और उसी के उत्तराधिकार में जो आज हम हैं, इसका लक्ष्य ही यही है कि हमें अपना कुछ भी याद न रह जाय। अपनी कोई स्मृति न रहे। इतना ही नहीं, स्मृतियों का दमन भी किया गया। पारसी थियेटर से लेकर आज तक का तथाकथित आधुनिक भारतीय थियेटर हमारी अपनी मूल भूमि, रंगभूमि की स्मृतियों को मिटा डालने का ही कथित विधिवत प्रयास है। उसी प्रयास का कर्मफल हमारे सामने है। ऐसा कर्मफल जहां 'मंच' यानी थियेटर ने अपनी सारी संभावनाएं खो चुका भी है। ऐसा क्यों हुआ, यह यह समझने में भी असमर्थ हो चुका है। उसकी नजरों में इसकी सारी प्रासंगिकता ही समाप्त है।

हालांकि इसने तमाम शास्त्रों, मन्त्रों, शैलियों का खुलकर इस्तेमाल किया। जैसे आधुनिक वाणिज्य समाज भी बाजार सजाकर इस्तेमाल करता है। रचना नहीं- इस्तेमाल! रचना नहीं — उपयोग! इसने निज देशों में लोक, आदिवासी कलारूपों से अपना भुगतान किया। इसने संस्कृत, ग्रीक और तमाम शास्त्रीय शैलियों — भारत, चीन, जापान आदि — से प्रेरणा लेने की भरसक कोशिश की। इसने एक ओर आर्थर मिलर, दूसरी ओर आइनेस्को और तीसरी ओर ब्रेख्त की नकल करके देख लिया। इसने सारे कपड़े पहनकर, सारे कपड़े उतारकर देख लिए। इसने अनेक दर्शकों के सामने आकर देख लिया और थोड़े से दर्शकों के लिए स्टूडियो-थियेटर बनाकर देख लिया। अमेरिका, जर्मनी, इंग्लैंड से [illegible], [illegible], [illegible], [illegible] का नया नाम लेकर मंत्र फूंक लिए। इसने फिल्मी अभिनेताओं और अभिनेत्रियों को मंच पर लाकर देख लिया। बात यहां तक हुआ कि अब गुरु और चेला ही नहीं रहने को। न कोई आग्रह, न कोई शैली, न कोई पक्षधरिता, न कोई कर्म-कुकर्म। सारे हथकंडे, सारे देशी-विदेशी फैशन करके हमने देख लिए। राजनीतिक, नुक्कड़, मुक्ताकाशी, [illegible], उदास, [illegible], स्वाभाविक, शैलीबद्ध, न जाने कितना-कितना करके देख लिया। और अभी थियेटर की वह सहज पूर्ति भी नहीं हुई कि हमारा मंच औपनिवेशिक हो या स्वात-[illegible], राष्ट्रीय हो या क्षेत्रीय, इसके पहले से वर्तमान मंच पर पर्दा गिर रहा है।

'मंच' पर इस तरह प्रोसीनियम थियेटर 'ड्रामा' का पर्दा उन्नीसवीं सदी उत्तरार्ध में भारत की जमीन पर उठा। इस थियेटर के खिलाफ भारतेन्दु ने अपनी भूमि के रंग के संदर्भ में कहीं 'तमाशा' और कहीं 'लीला' की बात उठायी थी और अपनी परम्परा-भूमि पर जमकर काम किया था। पर पारसी थियेटर के सामने उनकी अकेली आवाज कारगर सिद्ध न हो सकी। फिर प्रोसीनियम थियेटर, आधुनिक थियेटर का वह उठा हुआ पर्दा अब गिर रहा है।

इस नये दौर में हम अपनी 'भूमि' से कटकर ड्रामा और थियेटर की जमीन पर भटक गये — जिसको हमने नाम दिया — 'रंगमंच'। रंगमंच पर काम करते-करते हमारा ध्यान 'मंच' से अपनी 'भूमि' की ओर गया। 'भूमि' की स्मृति से ही हमें आभास हुआ कि चाहे जो हो अपनी स्मृतियां मिटती नहीं ऐसी स्मृतियां कालांतर में प्रत्यक्ष होने लगती हैं। और दमित स्मृतियां तो भयंकर रूप धारण करती हैं। इसके अनेक उदाहरण विश्व के राजनीतिक क्षेत्र में देखने को मिले हैं। इस क्षेत्र में इसकी हिंसा, अलगाववाद, अशांति के पीछे बुनियादी तौर पर यही दमित स्मृतियां हैं। हमारे दर्शक का मन आज 'रंग' का है, 'मंच' का नहीं। यह सत्य हमारी स्मृति में कहीं दफन होकर भी जीवित है। हम 'मंच' के मूक दर्शक नहीं, हम अपने 'रंग' के सहधर्मी, सहभोगी, दर्शक हैं, यह स्मृति हमारे अवचेतन में विद्यमान है। तभी हम केवल दर्शक नहीं हैं, दर्शक समाज हैं।

अनावश्यक बहुत कुछ भूलते या भुलाते जाना मस्तिष्क की एक अनिवार्य आवश्यकता है। पर इस 'ड्रामा' और 'थियेटर' के दो शब्द-भर से दशकों के संदर्भ में रंगमंच से जो 'रस' जुड़ा रह गया था, वह हम कभी नहीं भूला। इसी संबंध की अनिवार्य आवश्यकता थी कि हम आगे अनिवार्य रूप से 'भूमि' से जुड़ें। रंगमंच और रंगभूमि इन दो विभिन्न अवधारणाओं को केवल शाब्दिक स्तर पर नहीं उठाया जा रहा है, इस पर ध्यान दें। क्योंकि रंगमंच के लिए रंगभूमि शब्द-संज्ञा, महाराष्ट्र और गुजरात में सदा विद्यमान रहा है। पर मात्र शब्द, नाम से कोई अंतर नहीं पड़ता। अंतर पड़ता है आत्मबोध से, अपनापन से। अपना क्या है, आत्म-बोध क्या है? हमारी स्मृति ही उसका आधार है और रचना (अनुवाद नहीं) का ज्ञान है। हमारे पुरखों ने कहा है — स्मृति नहीं, अपनापन नहीं, तो व्यक्ति नहीं, बल्कि काल भी नहीं और रचना भी नहीं। 'मैं वही हूं जो मुझे स्मरण है।' वही और उतना ही, जितना मुझे स्मरण है।

ठीक इनके विपरीत आधुनिक जीवन की प्रवृत्ति [illegible] विगत दशकों में, विशेषकर 'आधुनिक थियेटर' हमारी स्मृति के परिदृश्य को लगातार छोटा करता चला गया है। पहले अपना रंग रूपक, फिर अपना नाटक पर पर्दा गिराकर हमने ड्रामा का पर्दा उठाया, फिर यथार्थवाद का, फिर प्रयोगवाद का, फिर न जाने क्या-क्या, जिसे स्वभावतः न हम समझ पाये न उनके दर्शकों को समझा पाये। अंततः हम नतीजे पर पहुंच गये कि थियेटर में कुछ नहीं है। थियेटर पर पर्दा गिरता है: लोग-बाग अपने-अपने घर में ही रहें, नये में विकसित होते हुए संचार माध्यमों में अपना मनोरंजन करें। उस मनोरंजन को वे इस तरह ... जोड़ रहे हैं और ... बात को वे विधिवत् ... करते हैं। यह सब कितना विधिवत् हुआ है, सोचकर आज रोंगटे-खड़े हो जाते हैं। जैसे राजनीतिक स्तर पर उन्होंने नारा चलाया — पहले '... मैन ...' का, फिर भारत उदय का, और आज़ादी के बाद अनुप्रेरणा का; ठीक इसी तरह थियेटर, कला, साहित्य सभी रचना-स्तरों पर नहीं किया गया। पहले तो हमें कुछ भी अपना याद न रह जाये; दूसरे, जो कुछ भी हम करें, रचें, उसकी प्रेरणा और प्रभाव उन्हीं का हो; तीसरे, जब भी वे चाहें पर्दा गिराकर हमें नये से विकसित होते हुए नियंत्रित संचार माध्यमों से हमें संकेत दे दें। यही था उनका ड्रामा, यही था उनका थियेटर। इसका सिर्फ इतना ही उद्देश्य था, और आज भी है कि जो कुछ भी हमें बताया जाता है, जो कुछ भी हमें दिखाया जाता है, उसे हम स्वीकार करते चलें। इसके लिए अनिवार्य आवश्यकता थी हम अपनी 'भूमि' से, हम अपनी जड़ से, चोटी से, रस से, स्मृति से कट जायें, भूल जायें अपने आपको; क्योंकि अपना कुछ न याद रहने पर ही हम दूसरों की दिखायी, बतायी हुई चीज को स्वीकार करने को बाध्य होते जाते हैं।

आखिर 'भूमि' क्या है रंग-स्तर पर? 'भूमि' भू धातु से बना है। भू माने होना, कुछ घटित होना— कथमन भविष्याम, अथवा: किमभवत्? (मातंग लीला 9/29) उत्पन्न होना— यदपत्य भविष्याम (मनुस्मृति 9/127), फूटना, निकलना, उदय होना। भू धातु का अर्थ है 'वह होना जो पहले नहीं था' सर्वत्र भू—संभव होना। कृष्णीभू—काला होना। आविर्भू—प्रकट होना। होने वाला, उगने वाला, उपजने वाला, चित्तभू, आत्मभू आदि-आदि। और भू को अगर किसी में जोड़ दिया जाय, भू- तो इसका अर्थ है पृथ्वी, अंतरिक्ष अथवा 'स्वर्ग-दिव मर्त्यवानिव भोक्ष्यते भुवम्' (रघुवंश-3/4, 18/4)। किसी विशेष प्रक्रिया मात्र को भी 'भू' कहते हैं। इस विशेष प्रक्रिया के बाद जो कोई निर्मिति हो, जिसमें कुछ धारण करने, सहन करने, प्रजनन करने की क्षमता हो वह 'भूमि' है। 'भू' धातु है 'मि' उपसर्ग—अतः भूमि वह विशेष स्थल है, स्थान है, जो किसी विशेष निर्माण-प्रक्रिया के बाद ही बनकर तैयार होता है। हमारी नाट्य परंपरा में कोई भी ऐसा नाटक नहीं था, जो इस भूमि का न रहा हो। भूमि का भी अपनी भूमिका थी। अभिज्ञान शाकुन्तलम् में स्पष्ट के भूमि निर्माण की प्रक्रिया ही नांदी पूजा है—विधाता की जो पहली सृष्टि है, वह जल, देवताओं तक ले जाने वाली वह अग्नि, जो होम करने वाला है वह यजमान, काल का विधान करने वाले सूर्य और चन्द्रमा, शब्द अर्थात् आकाश, सृजन का जो मूल है, वह पृथ्वी, जो प्राणियों में प्राण संचार करती है वह वायु, इन आठ प्रत्यक्ष रूपों में जो प्रकट है, वह शिव आपकी रक्षा करें। यह है वह प्रक्रिया जिसमें एक ओर नाटक की भूमि निर्मित होती है, दूसरी ओर दर्शक की मनोमय भूमि—चित्त भूमि। फिर नाटक का आरंभ होता है। वह नाटक जो रूपक का एक विशेष प्रकार है।

रूपक पर आने से पहले हम देख लें कि 'रंग' क्या है, जो 'भूमि' से जुड़ा है। इस रंग का तात्त्विक अर्थ क्या है? रंग-भवन, भूमि, अनुरंजन, अभिनय, प्रस्तुतीकरण और परंपरा सबके बीच रागबद्धता, रागमय विभावन की संपूर्णता के अर्थ में है—अहो रागबद्धचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रंगः (अभिज्ञान शाकुन्तलम्-1)। रंग यानि वर्ण और वर्ण यानि रंग करना। वर्ण यानी रंग का एक विशेष अर्थ और भी है जिसका संबंध अभिनय से है। चारों प्रकार के अभिनय—आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक जो अपनी अर्थ रचना में (व्यक्ति और व्यक्ति समूहन, संबंधों, ध्वनियों) में अपने आपको व्यक्त करता है और जिसमें अन्ततः छंद और रस बनते हैं (वर्णानामर्थसंघानां रसानां छंदसामपि)। और जो इन सबके कर्ता हैं, मंगलों को करने वाली सरस्वती और गणेश उनकी वंदना करता हूं (मंगलानां च कर्त्तारौ वंदे वाणीविनायकौ)। क्यों करता हूं यह वंदना? इस रंग की अनिवार्यता क्या है? क्योंकि बिना श्रद्धा और विश्वास के रंग में रंगे हुए अपने अंतःकरण में स्थित ईश्वर को नहीं देख सकता। रंग-संदर्भ में ईश्वर यानी ...—अभिज्ञान—आनंद। अतः

रंग से अभिप्राय है— एक संपूर्ण उल्लास और आंतरिक उत्साह। पूरा रंग ही रूपक है। पूर्ण रंग जब अपना रूप धारण कर अभिव्यक्त होता है, प्रकट होता है तो वही है रूपक और रूपक से आया है नाटक। इसके विपरीत 'ड्रामा' बिलकुल दूसरी दिशा से आता है।

रंग, भूमि और नाटक इसका पूरा मर्म तुलसीदास ने एक चौपाई में प्रतिष्ठित कर रखा है :

रंगभूमि जब सिय पगु धारी।
देखि रूप मोहे नर नारी॥

रंग-- वहां व्यापक है : रूपक संपूर्ण है। रंग पूरा है। भूमि रंग में पूरी है। चारों ओर सुंदरता, लालित्य और उत्साह के बीच शिव-धनुष का नाटक (रूपक) रचा हुआ है। रचा जा रहा है। एक ही चित्तवृत्ति वाला दर्शक समाज (नर नारी) घिरा बैठा है। जानते ही हुए पात्र हैं क्योंकि यहीं भूमिका है, भंगिमा जिससे आ ही जाती है, यही मन की मूल वृत्ति है, यही जिज्ञासा-केंद्र है। अतः रंगभूमि पर उनके प्रवेश से सब मोहे हुए उल्लसित हैं। धनुष-भंग होना—यही 'भू' है और इस रंगभूमि पर वह नाटक— वह रूपक हो रहा है, जहां धनुष तोड़कर एक नये युग का सूत्रपात होता है। जहां तोड़कर ही महामिलन— विवाह संभव है। यहीं शिव धनुष यज्ञ रूपक धारण करता रहा है— राम और जानकी के मिलन का, पुरुष-प्रकृति के महामिलन का। तोड़कर प्रकट होना, जोड़कर मिलना, उदित होना, यही है हमारे रंगभूमि का रूपक, रूपक का नाटक।

इसके विपरीत ड्रामा और थियेटर में सिर्फ टूटना और तोड़ना है, वहां मिलने का प्रश्न ही नहीं है। मिलन का भाव ड्रामा-थियेटर में है ही नहीं है। वहां वे स्वयं टूटकर गिरते हैं— अपने पर। वे सदा घायल रहे हैं। पाप-भाव संपृक्त हैं। उनके बोध में केवल मूल अपराध और मृत्युबोध है।

यह कल्पना करना हमारे लिए कठिन है कि कोई ऐसा भी समय हो सकता है जिसमें अपना रंग न हो। कला और साहित्य न हो हालांकि यही प्रयत्न साम्राज्यवादी फिर आधुनिकतावादी पश्चिम ने भारत-भूमि पर किया। इसी प्रक्रिया से उसने पहले रंग को भूमि से काटा। हम कटे अपने आप से। फिर उसने 'ड्रामा' और थियेटर (मंच) के प्रभाव नहीं, बल्कि अधीनता में हमारे परिप्रेक्ष्य और बोध को लगातार खोखला, छिछला किया। फिर रातों-रात आदर्शों के प्रभाव से उस ड्रामा, उस रंगमंच (थियेटर) को उत्तरोत्तर अप्रासंगिक कर दिया। यही उनका औपनिवेशिक ड्रामा था।

हम अपनी रंगभूमि पर जाते हैं : मंच से रंगभूमि की मानसिकता पर। हमें अपनी उस मनोदशा को रचना है, ग्रहण करना है, जिससे हम अपने 'स्व,' अपनी भूमि की भूमिका में प्रतिष्ठित हो सकें। इसका यह अर्थ बिलकुल नहीं कि हम पीछे

मुड़ जायें और प्राचीनता में चले जायें। हम अपनी जिस रंगभूमि को अपनाने जा रहे हैं, वही तो हमारा 'स्व' है। यही उसके प्राप्त या अप्राप्त होने की कसौटी है। अब सबसे पहले हमारी अनुसंधान-वृत्ति का काम है कि वह अपनी 'रंगभूमि' कसौटी का निरंतर उपयोग करे और हमारे द्वारा जिसका अनुकरण या अनुसरण किया जा रहा है, उसमें से केवल उन्हीं तत्त्वों को स्वीकार करें हम, जो हमारी 'भूमि' हमारे 'रंग' के लिए हैं। अपनी वह 'भूमि' हमें प्राप्त करना है। आज हमारी स्थिति भूमिहीन की है। हम अपनी भूमि से बाकायदा उखाड़े गये हैं। उस भूमि की स्मृति एकदम नाश करने की कोशिश अब भी चल रही है। ऐसी ही विकट स्थिति में हमारी रंग-स्मृति जग रही है कि रंगकर्म अपनी संस्कृति, अपने 'स्व' के अधीन ही संभव है।

आदमी भूमिहीन तभी होता है जब वह अपनी संस्कृति (स्वधर्म) से उखाड़ा जाता है, या उखड़ता है। मॉडर्न थियेटर ने उसी धरातल पर हमें उच्छिन्न किया है। उन्नीस सौ सैंतालीस तक वह प्रक्रिया पूरी कर उन्होंने हमें स्वतंत्र नहीं, आजाद करके यह कहा कि भारतवर्ष में अब अपना कुछ भी नहीं रहा। यह अविकसित है। हम इसे विकसित यानी आधुनिक करेंगे। मतलब वे देंगे हमें अपनी भूमि। कैसी भयंकर बात है। जब तक अपनी संस्कृति थी, हमें ऐसी बात कौन कह सकता था? जब तक अपनी संस्कृति थी, तब तक सबका जीवन अपने रंग में परिव्याप्त था। रंगभूमि का प्रत्येक अंग, अपने नाटक का प्रत्येक पक्ष एक-दूसरे में परिव्याप्त था, जैसे मेंहदी में रंग। कहीं कोई बाधा नहीं थी, क्योंकि संस्कृति अबाध थी। नाटककार, अभिनेता जिस शब्द, जिस प्रतीक, चिह्न, मुद्रा, लय, छंद, जिस भाव और विचार को अपनी कला में प्रयुक्त करता था, उसे दर्शक समाज (नर-नारी) सहज ही ग्रहण कर लेता था। आज जब अपनी कोई संस्कृति नहीं, तब नाटक लिखना, करना कितना संकटपूर्ण काम है। जो कभी आनंदमय कर्म था, धर्म था वही इतना संकटपूर्ण हो गया। नाटककार कहीं, अभिनेता कहीं, दर्शक कहीं, सबकी भाषा में इतना अंतर। क्योंकि अपनी भूमि नहीं, जहां हम समानधर्मा होकर एकजुट होकर खड़े हो सकें।

भूमि माने अपना धर्म। रंग माने अपनी भूमि। हमारी यह भूमि हमसे कोई नहीं छीन सकता। हमें इसकी स्मृति है। भूमि का एक सनातन रूपक हमारे दर्शन में है। हमारे अस्तित्व की स्थिति 'ऊर्ध्वमूलमधः शाख' के रूपक में सुरक्षित है, जिसे पोषण देनेवाली 'भूमि' और जिसे विस्तार का अवकाश देनेवाला आकाश नीचे है। यही हमारी रंगभूमि का सनातन, अबाध रूपक-नाटक है।

रंगभूमि : सनातन दृष्टि

हमारी सनातनता की वास्तविकता और उसका बोध दो पक्षों, श्रद्धा और विश्वास में विद्यमान है। श्रद्धा सामने जो कभी चुकती नहीं, जो निरंतर पूरी होती रहती है। श्रत् + धा + अङ् + टाप = श्रद्धा। श्रद्धा शब्द के पहले श्रत् अव्यय है, जिसका स्वयं में अर्थ सत्य और विश्वास से है। यह अव्यय भी धातु से अत् प्रत्यय लगने पर बनता है। इस प्रकार श्रत् अव्ययपूर्वक 'धा' धातु से अङ् और टाप प्रत्यय लगने पर श्रद्धा शब्द की निष्पत्ति होती है। इसका अर्थ है---किसी के प्रति आस्था के साथ पूज्य भाव उत्पन्न होना। इसका विशेष अर्थ आमने-सामने के भाव में है। आमने-सामने की बातें हों, कथा हो, संवाद हो, दृश्य हो, अभिनेता-दर्शक हों, कर्ता और दृष्टा हों...।

और विश्वास ?

विश्वास शब्द के पूर्व 'वि' उपसर्ग है। 'श्वस' धातु है, और घञ् प्रत्यय है। इसका शाब्दिक अर्थ है, किसी के गुण, साधना के प्रति उत्पन्न होने वाला दृढ़ निश्चय-भाव।

मतलब, सत्य और सनातनता के पहले रूप श्रद्धा को, उसके दूसरे रूप विश्वास से जोड़ना ही पुरुषार्थ है, जो एक ओर जीवन-साधना है, दूसरी ओर चित्त के अन्य स्तर पर वही आगे यही रूपक है --- नाट्य है, नाटक है, नाट्य-प्रस्तुति है! इसीलिए रंगभूमि के प्रत्येक आयाम और तत्व में यही है तर्क। कथा श्रद्धा, विश्वास-पात्र, अभिनेता श्रद्धा, दर्शक विश्वास, लोक श्रद्धा, शास्त्र विश्वास, अर्थात् जिसके बिना न कुछ दिखाया या प्रस्तुत किया जा सकता है, न जिसके बिना कुछ किया जा सकता और न दिख सकता है --- 'याभ्यां विना न पश्यन्ति'।

श्रद्धा और विश्वास, ये दोनों एक ही सत्य के दो पक्ष हैं जो एक समय एक साथ नहीं अनुभूत होते या दिखते। जिन्हें क्रम से ही देखा जा सकता है---जैसे पहले रंग फिर भूमि, पहले भवानी-पार्वती फिर शिव, पहले भाव (नाटक, अभिनय) फिर ग्राहक (भाव को ग्रहण करने वाला दर्शक), तभी सत्य को पूर्ण रूप से देखा

जा सकता है। तभी अपने यहां चाहे कथा हो, कोई कला हो, साहित्य हो, सबमें निरंतरता (श्रद्धा) और पूर्णता (विश्वास) की प्रतीति कराने वाले अभिप्राय से किसी-न-किसी रूप में व्यंजित हैं। इसके ठीक विपरीत पश्चिम का थियेटर एक निर्मिति मात्र है; 'ड्रामा' केवल एक घटना है।

अपने यहां धर्म (संस्कृति) के अधीन श्रद्धा और विश्वास अर्थात अखंडता और अखंड सृष्टि का बोध है, जहां से हम वर्तमान में रहते, अतीत को जीते हुए सनातन बने रहते हैं। हम न अतीत में बंधते हैं, न भविष्य की निर्वाचिता में वर्तमान को बिसारते हैं। हम जड़ इतिहास का बोझ नहीं ढोते। इसलिए हमारे नाट्य में इतिहास-पुरुष नहीं, केवल भाव-पुरुष और लीला-पुरुष ही हैं, जिनकी होते रहने की संभावना कभी नहीं चुकती। हमारी कथा में, नाट्य में उनकी उपस्थिति सदा है, वे सनातन हैं हमारे बीच।

इसीलिए हमारे यहां मंच की अवधारणा नहीं, बल्कि भूमि की अवधारणा है। भूमि ही समस्त सर्जना, सृजन की अधिष्ठात्री है। हमारी संस्कृति में भूमि पूरे विश्व नाटक, पूरी वसुधा का आधार है। संभवतः इसीलिए भूमि को हमारे यहां मां कहा गया है और इसकी पूजा का विधान है। चाहे कोई भी उत्सव हो, पर्व हो, धार्मिक अनुष्ठान हो, ऐसा उद्घोष अवश्य किया जाता है कि 'भूमि मेरी माता है, मैं भूमि का पुत्र हूं।' इस तरह भूमि हमारी सांस्कृतिक चेतना का मूल तत्त्व है। यह समाज की विकासिका शक्ति है। इसी भूमि तत्त्व में ही नाट्य के 'दिक्' और 'काल' की व्यंजना है। भारतीय दृष्टि में सर्वत्र रंगभूमि की ही अवधारणा है; इसका प्रमाण हमारी संपूर्ण लोकचेतना और रंगदृष्टि में व्याप्त है।

हमारी संस्कृति में जो शब्द कला के स्थान पर सर्वत्र व्यवहृत हुआ है, वह रंगभूमि ही है, क्योंकि हमने देखा है कि भूमा का सारा रंग इसी भूमि पर ही दृष्टिगम्य है। सारा विराट खेल इसी भूमि पर ही घटित हो रहा है। भूमि का एक विशेष अर्थ नाट्य की दृष्टि से वह स्थान है, जहां सबकी दृष्टि लगी हुई हो। तभी हमारी संस्कृति में रंगभूमि की अवधारणा में जिस शब्द का प्रयोग और व्यवहार हुआ है वह है नाट्य। नाट्य का बहुत बड़ा अर्थ हमारे यहां—अवलोकन, श्रवण द्वारा प्राप्त किया गया। कोई ज्ञान नहीं, शिल्प नहीं, कला नहीं, योग नहीं, कर्म नहीं जो इस नाट्य में न देखा जाता हो। भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र के पहले ही अध्याय में नाट्य की उत्पत्ति का जो विवरण दिया है, उसमें नाट्य की संपूर्ण अर्थवत्ता के अति संकेत भरे पड़े हैं।

इस 'नाट्य' से जिन महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का भान होता है वे हैं: पहला—नाट्य के अंतर्गत नाटक ऐसा खेल है जो देखा और सुना जा सके; दूसरा—इसका प्रयोग किया जाता है, अर्थात् यह प्रयोगधर्मी है, वस्तुधर्मी अर्थात् यह अभिनेताओं द्वारा रंगभूमि पर दर्शकों के सम्मुख खेला जाता है, जिसे सब वर्णों के लोग समान

रूप से देख सकते हैं और इसका आनंद ले सकते हैं, तीसरा — इसमें सभी शास्त्रों के तत्त्वों का निरूपण और सभी शिल्पों की प्रस्तुति होती है; चौथा — इसके चार प्रमुख अंग हैं : पाठ्य जिसे वाचिक कहते हैं, गीत, अभिनय और रस, इसमें इतिहास, पुराण, लोक से ही सामग्री ली जाती है, पांचवां — इसके द्वारा लोग धर्म, अर्थ और काम प्राप्त कर सकते हैं।

इसके विपरीत यूनानी, अंग्रेजी (पश्चिमी थियेटर) मनुष्य को केवल नियति के हाथ में बंधा हुआ देखती है। इसलिए अंग्रेजी के थियेटर में आवेग की ज्वाला भड़कती है तथा फुंफकारती हुई अभागे चरित्रों को मृत्यु के गर्त में ले जाती है। इसके विपरीत भारतीय नाट्य में नायक हर कठिनाई पर विजय पा लेता है। उसके बाह्य जगत और आंतरिक भावों के बीच का संघर्ष उसके शरीर और उसकी आत्मा को खंडित नहीं करता, तथा वह दर्शकों को किसी मानसिक संघर्ष या आत्मिक विषाद का भोक्ता नहीं बनाता। यूनानी थियेटर में प्रकृति, मानव की विवशता और पीड़ा की उपेक्षा करती है। और कई बार उसका उपहास तक करती है। प्रकृति की हृदयहीन कठोरता त्रासदी को और घनीभूत कर देती है। इसके विपरीत भारतीय नाट्य में प्रकृति मनुष्य की भावनाओं, कर्मों और संवेदनाओं को बहुत सहानुभूति के साथ सहेजती है एवं उसके हर्ष और विषाद में भाग लेती है। जब शकुन्तला कण्व ऋषि के आश्रम से विदा लेती है तो लताएं मुरझा जाती हैं, मृगशावक घास चरना बंद कर देते हैं। यहां प्रकृति मनुष्य का ही एक अंग है। पश्चिम में प्रकृति मनुष्य की विरोधी है। मनुष्य के लिए प्रकृति के प्रति यहां स्नेह में सने हुए भाव हैं।[1]

जिस भूमि पर हमारी आंखें केंद्रित हैं, हमारे समय में वही हमारी रंगभूमि और वही हमारा नाट्य है। इस रंगभूमि और नाट्य को हम कैसे देखें और कैसे जानें, यह हमारे लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। जहां थोड़ी देर बाद कुछ घटित होगा अर्थात जिस रंगभूमि पर किसी पात्र की भूमिका में किसी अभिनेता का प्रवेश अर्थात अवतरण होगा, उसी को देखने के लिए हमारी आंखें लालायित हैं। इसलिए वह स्थान, वह काल, वह क्षण पूरे समाज के लिए बहुत अर्थवान हो जाता है।

जो अभी रंगभूमि पर घटित हुआ है और जिसे हम प्रकाश में देखने लगे हैं, उसके द्वारा हम एक ऐसा ज्ञान हासिल करने चले हैं जो अभी तक अंधकार में छिपा था। इस संबंध में एक महत्त्वपूर्ण बात यह उभर रही है कि जिस भूमि पर हमारी सारी आंखें लगी हैं वह स्थान सबके लिए मानसिक धरातल पर पवित्र हो जाता है। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि जब हम किसी जगह को देखने लगते हैं तो स्वभावतः वह जगह विशिष्ट हो जाती है। इस विशिष्ट भूमि पर हम विशिष्ट को

ही देखते हैं। इसका अर्थ यह भी है कि जब हम किसी सामान्य वस्तु को भी देखने लगते हैं तब वह असामान्य हो जाती है। यही है रंग रचने और देखने की प्रक्रिया और उसकी उपलब्धि।

भूमि में रंग कैसे उत्पन्न हो? रंग का अर्थ है उल्लास और उत्साह। इसके लिए आवश्यक है सामंजस्य। रंग पैदा होने की एक मुख्य शर्त है — रिश्ता कायम होना। प्रत्येक सहकर्मी का दूसरे सहकर्मी से रिश्ता और इस पूरे समाज का वृहत्तर समाज से रिश्ता मिलकर भूमि पर एक नये रंग को उद्भासित करता है। इस तरह जब एक-एक के रंग में सबका रंग मिल जाता है, और सबका रंग एक रंग हो उठता है तब वास्तविक रंग की निष्पत्ति होती है। एक व्यक्ति का रंग घमंड होता है, पर जब तमाम व्यक्तियों के रंगों का सम्मिलन होता है तो उसमें भी एक चित्र उभरता है, वह कला की दुनिया का एक अनिर्वचनीय रंग होता है। एक अन्य प्रमुख शर्त है — एक की दूसरे के प्रति परस्पर अनुकूलता।

जिंदगी में रंग कब पैदा होता है? जब परिवार या समाज का एक सदस्य दूसरे के प्रति अनुकूल होता है। इस अनुकूलता में कोई दबाव नहीं रहता। यह सहज ही जिंदगी में एक रंग पैदा करती है। रंग तब नहीं पैदा होता, या रंग तब बदरंग हो जाता है या कच्चा रह जाता है जब एक रंग अपने अहंकार में केंद्रित होकर यह आचरण करने लगता है कि मेरा रंग स्वयंमेव विशिष्ट है, मैं दूसरे के लिए अपनी विशिष्टता का क्यों त्याग करूं? विशेष रंग का यह व्यक्तिवाद, रंग-विरोधी है। वह विराट रंग जहां एक ही रंग में सारे रंग घुलमिल जाते हैं, वह परस्पर अनुकूलता से ही संभव है।

भूमि पर जहां रंग उभरता भी है वहां किसी अभिनेता का प्रवेश निहित है। पश्चिम में इसके लिए शब्द 'एन्ट्री' है। हमारे नाट्य में इसके लिए कुछ महत्त्वपूर्ण शब्द हैं जैसे अवतीर्ण, अवतरित! 'अवतीर्ण' और 'अवतरित' जैसे शब्द अभिनेता द्वारा रंगभूमि पर प्रवेश के अर्थ को बड़ी गहराई और व्यापकता देते हैं। ये 'अवतरण' के भाव को प्रकट करते हैं। कल्पना कीजिए कि रंगशाला में दर्शक समाज चुपचाप बैठा हुआ है, रंगभूमि पर घुप्प अंधेरा है। उस अंधकार में, उस अदृश्य में अभिनेता भूमि पर प्रकाश के साथ प्रवेश करता है। इसकी व्यंजना क्या है? यही कि अभिनेता का प्रवेश ही एक ऐसा प्रकाश है जिससे उस अंधेरे में किसी सच्चाई का अवतरण होने जा रहा है। भारतीय संस्कृति में नटराज, नटवर, ईश्वर, लीलाधारी और 'अवतार' के कितने ही प्रसंग हमें मिलते हैं। अभिनेता के प्रवेश के संदर्भ में जरा यह प्रसंग अपने रामचरितमानस में देखिए -

भए प्रगट कृपाला परम दयाला कौशल्या हितकारी।
हरषित महतारी मुनिमनहारी अद्भुत रूप विचारी॥

लोचन अभिरामं तनु घनश्यामं निज आयुध भुजचारी।
भूषन बनमाला, नयन बिसाला, सोभा सिंधु खरारी॥
....

ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति बेद कहै।

कौशल्या रूपी मां - दर्शक के सामने ब्रह्म का अवतरण इस विराट रूप में हुआ कि जिसे देखकर कौशल्या की आंखें नहीं मुदीं, हालांकि वह उस विशुद्ध अद्भुत रूप को देखकर विस्मित और चकित अवश्य हो गयीं। वह कुछ भी नहीं समझ पायीं, केवल आश्चर्यचकित हो ब्रह्म के उस विश्वस्वरूप को देखती रह गयीं। तब उस रूप ने अर्थात् उस विराट अभिनेता ने दर्शकरूपी मां से

'कहि कथा सुहाई मातु बुझाई जेहि प्रकार सुत प्रेम लहै।'

अर्थात् उस अभिनेता ने मां को वह कथा सुनायी और समझाया, जिससे मां को यह प्रतीति संभव हुई कि पुत्र प्रेम क्या है, और ब्रह्म का अवतरण पुत्र रूप में भी संभव है। दर्शक मां के हृदय में ईश्वर कृपा से जब प्रेम (श्रद्धा) और विश्वास उद्भासित हुआ तब वे बोलीं :

माता पुनि बोली सो मति डोली तजहु तात यह रूप।
कीजै सिसुलीला अति प्रियसीला यह सुख परम अनूप।
सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुरभूप।

नाट्य-प्रस्तुति प्रवेश के स्तर पर और रंगभूमि पर अभिनेता के अवतरण के प्रति शास्त्रीय दृष्टि को समझने के लिए यह प्रसंग बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें प्रवेश का जो पहला दृश्य है वह अवतरण है। दूसरा दृश्य, जब वह मां के कहने से शिशु होकर रोने लगते हैं, वह उस अवतरण की अपनी भूमिका है जो एक ओर जितना ही सत्य है उतना ही इसमें लीला भाव है। यह उदाहरण 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम' को सही ढंग से समझने के लिए महत्वपूर्ण उदाहरण है।

'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम' में तीन शब्द हैं— अवस्था, अनुकृति और नाट्य। इसका अर्थ यह है कि अवस्था की अनुकृति ही नाट्य अर्थात् रंगभूमि है। अवस्था का क्या अर्थ है? 'अवस्थ:' अर्थात् उस दशा को पहुंचा हुआ जिसमें काल, देश, क्रम, अंत और बाकी पूरी स्थितियां सम्मिलित हैं। अनुकृति का क्या अर्थ है? अनुकृति से अभिप्राय नकल नहीं, अनुकरण भी नहीं, बल्कि सत्य या तथ्य के समानांतर एक सृजन, एक कृति है। इसमें समानांतर का बोध है। इस तरह अनुकृति का पश्चिम के 'इमिटेशन' से सर्वथा अलग भाव है। पश्चिम में 'इमिटेशन' केवल 'एक्शन' का ही है। हमारे यहां अनुकृति पूरी अवस्था की है। 'इमिटेशन' आरोपण है, शारीरिक अवस्था की हू-बहू प्रतिकृति है।

इन दोनों, सर्वथा भिन्न भावों को समझने के लिए रंगभूमि के संदर्भ में हमें थोड़े और गहरे जाना होगा जहां, 'अनुकृति' और 'इमिटेशन' की बुनियाद में दो

भिन्न संस्कृतियों का मर्मभाव है। यहां यह दृश्य जगत नित्य और अनित्य दोनों तत्त्वों के भीतर से देखा जाता है। भारतीय दृष्टि में यह पूरा जगत पदार्थ नहीं, अपितु पदार्थ और भाव दोनों का एकात्मक रूप है। यह ब्रह्म के चैतन्य की नित्य सत्ता है जिसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता तभी इसे नित्य कहा गया है। पर प्रायः यह बात सर्वथा भ्रमपूर्ण है। जब लोग शंकर के अद्वैत को उद्धृत कर यह कह बैठते हैं कि ब्रह्म सत्य है और जगत मिथ्या है तब इस संदर्भ में लोग यह जानने का कष्ट नहीं उठाते कि यदि ब्रह्म सत्य है तो यह जगत जो उसी की आत्माभिव्यक्ति, आत्मप्रकाश है, वह असत्य कैसे है? पहले ब्रह्म की मर्यादाएं को जान लेना चाहिए। ब्रह्म को तीन सिरों वाला पशु कहा गया है। अर्थात एक ही वस्तु के तीन आयाम हैं — **शुद्ध चैतन्य, उस चैतन्य का संज्ञान, शब्द द्वारा उस चैतन्य का अनुभव** कर लेना। अर्थात् चेतना का ज्ञान, चेतना की पहचान, चेतना को देख लेना। यह है ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप। इस अर्थ में यह दृश्य जगत भी पूरे का रूप नया है। जगत के संदर्भ में असत्य उसे कहा गया है जो अनित्य है अर्थात जो परिवर्तनशील है, जो निरंतर बदलता रहता है।

इस तरह अवस्था की अनुकृति में दो मूल भाव अंतर्निहित हैं — अवस्था के समानांतर और समान सृजन, और इस सृजन के प्रति सदा सौन्दर्य भाव रखना। तभी यह संभव है कि हमारे यहां काम, क्रोध, घृणा, जुगुप्सा इन सब भावों को भी समान भूमिका से देखा गया। हम अवस्था की अनुकृति में आनन्द प्राप्त करते हैं, क्योंकि हमें मालूम है कि इसमें नित्य और अनित्य क्या है।

ठीक इसके विपरीत, 'एक्शन' के 'इमिटेशन' के पीछे तीन तथ्य हैं — यह जगत एक यथार्थ पदार्थ है, यह जगत एक ही बार के लिए है, 'गॉड' और इस जगत के बीच में एक दुर्लंघ्य दूरी है। इस दूरी के साथ में एक ओर 'सिन' का बोध है तो दूसरी ओर प्रायश्चित्त का। वस्तु या पदार्थमय इस जगत के प्रति पश्चिम के व्यक्ति का स्वभावतः एक ही रुख संभव है कि पदार्थ पर मनुष्य का आधिपत्य और वर्चस्व किसी न रह बना रहे।[3]

इसी का फल है कि वहां के संपूर्ण नाट्य का अधिष्ठान संघर्ष है, द्वैत है, द्वैत और दूरी के कारण एक अबाध लड़ाई है। वहां प्रकृति और मनुष्य दोनों के मध्य इतना बैर और तनाव है कि दोनों के पंजे एक-दूसरे का खून करने के लिए रक्तरंजित हैं। इसके विपरीत यहां प्रत्येक वस्तु, पदार्थ या मनुष्य में रंग और यथार्थ के संदर्भ में एक अंतर्निहित एकता, उत्सव, उल्लास और आनन्द का भाव है। इसमें जो हमारा ईश्वरीय भाव है, उसे ही हमने सदा सत्यभाव स्वभाव माना है।

रंग के स्तर पर हमारा अस्तित्व नितान्त मानवीय है, अर्थात जितना अनित्य है वहीं हमारा नाट्य है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् के नाट्य में जो संपूर्ण रंग रचा गया है, वह इसी अनित्य के ही आधार पर खड़ा है अर्थात जहां इस मन का अभिज्ञान

है, वही नाट्य है।
अर्थात अंधकार से
है उतार यहां संके
इसके ठीक वि
गया है। प्लेटो के
अर्थात भौतिक
अवकाश या दूरी है,
खड़ा हुआ है। उन
वस्तुतः एक ओर,
पीछे या चिन्ता में
विद्यमान है, जिसके
यहां देखने, पहचान
अनुभव करने नहीं,
तत्त्व है हो नहीं; '
आलोचकों द्वारा '
अर्थ है जो
'घोस्ट' में है तथा
'प्ले' का एक पदार्थ
नाटक में है, जहां हेम
के विषय में बना रह
था और ज्ञान भी है
उसमें नैतिकता। 'ध
का मजाक करता है,
उसके इरादा को वि
हेमलेट के इस
पूर्ण तथ्य प्रकट है
आरोपण, 'डेनमार्क
सके। किन्तु शेक्सपिय
आधुनिक युग की
अपनी बात कह रहे
उनका मतलब एक '
मानवीय दृष्य का
और रहा था।
हमारे यहां नाट्य

है, वही लक्ष्य है। इस नाट्य का उद्देश्य ही है अनित्य से 'नित्य' का अभिज्ञान। अर्थात् अंधकार से प्रकाश, असत्य से सत्य की दिशा में जाना। अभिनय में जो 'रस' है उसका यही संकेत है।

इसके ठीक विपरीत पश्चिम में यूनानी विचारकों ने पदार्थ या यथार्थ को ग्रहण किया गया है। प्लेटो के शब्दों में 'मानवीय व्यापार की अनुकृति ही त्रासदी है' अर्थात् मानवीय व्यापार को यथार्थता में लेना ट्रेजेडी है। पश्चिम में भी यह वैचारिक धारणा रही है, जो पदार्थ दृष्टिगत होता है इसी पर उनका पूरा 'थियेटर' खड़ा हुआ है। उनके 'थियेटर' के अंतस्तल में जो एक संघर्ष है, उसके भीतर वस्तुतः एक खोज, तनाव, अंतर्द्वंद्व, प्रश्न और संशय है। हमारे यहां नाट्य के पीछे या जीवन के पीछे सत्य निहित रहता है, जहां सब कुछ अपने वास्तविक रूप में विद्यमान है, जिसके प्रकाश में सब कुछ सहज ही दिख जाता है। इसलिए हमारे यहां देखने, पहचानने और अनुभव करने पर अत्यधिक बल है। पश्चिम में अनुभव करने नहीं, खोजने, तलाशने पर बल है। उनके 'थियेटर' में 'अनुभूति' शब्द है ही नहीं; 'खोजना' और 'जानना' ही मुख्य है, वह भी तर्क और व्यक्तिगत भावनाओं द्वारा, जिसका कोई अंत ही नहीं। इसी खोज और तलाश का रूप ही अंत है जो सोफोक्लीज के 'इडीपस' में है, शेक्सपियर के 'हैमलेट' में, इब्सन के 'घोस्ट' में है तथा आर्थर मिलर के 'डेथ आफ ए सेल्समैन' में है। शेक्सपियर ने 'प्ले' को एक पदार्थ कहा है, 'द प्ले इज द थिंग'। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण 'हैमलेट' नाटक में है, जहां हैमलेट अपने अभिनेताओं को थियेटर के बारे में, खासकर अभिनय के विषय में बता रहा है। नाटक खेलने का प्रयोजन, जिसका उद्देश्य, जैसा पहले था और आज भी है। दर्पण को, जो था और आज भी है, प्रकृति के सामने रखकर उसमें नैतिकता 'वर्च्यू' को उसकी नकल को दिखाना है, और उसकी वास्तविकता का बयान करना है और उस काल तथा समाज, उसके शरीर, उसके आकार और उसके दबाव को दिखाना है।[1]

हैमलेट के इस संवाद से ज़ाहिर है कि एलिज़ाबेथ युगीन थियेटर का यह महत्त्वपूर्ण तत्त्व रहा है कि मानव जीवन तथा उसके कर्मों का सीधा, विशिष्ट अनुकरण, 'इमिटेशन' है। ऐसा आचरण जो समाज की तरह खेला, बनाया जा सके। किंतु शेक्सपियर का रंगमंच अपने व्यापक तत्व और विशिष्टताओं के कारण आधुनिक युग की मान्य नहीं हो सका। निस्संदेह हैमलेट उस 'थियेटर' के प्रसंग में आता था। वह रहा है जो उसी समय का था जिसमें उसका जीवन जुड़ा हुआ था, उसका संबंध एक 'मिथ्याभिनय' मंच से था, जिसके पीछे उस समय के पारंपरिक मानवीय दृश्य का संकेत था, जिसका प्रतिनिधित्व एलिज़ाबेथ युगीन थियेटर स्वयं कर रहा था।

हमारे यहां नाट्य का स्वरूप, उद्देश्य और अवधारणा इससे सर्वथा भिन्न है।

वहां आरोपण है तो हमारे यहां अनुकरण है। तभी हमारे यहां नाट्य-प्रस्तुति है, पश्चिम में नाट्य-प्रदर्शन है। अनुकरण या प्रस्तुति शब्द कृति अथवा अनुकृति शब्द का ही भाववाचक शब्द है।

'अनुकृति' और 'इमिटेशन' के अंतर को हम भारतीय और पाश्चात्य संगीत के उदाहरण द्वारा भी देख सकते हैं। पाश्चात्य संगीत का सीधा प्रभाव शरीर पर पड़ता है। किन्तु भारतीय संगीत का प्रभाव हमारे हृदय पर पड़ता है। जो अंतर शरीर और हृदय अर्थात पदार्थ और भाव में है वही अंतर 'इमिटेशन' और 'अनुकृति' में है।

एलिजाबेथ युगीन थियेटर में 'प्रकृति' एक विरोधी भाव से देखी गयी है तभी उसे दर्पण की सीमा में ही देखने की बात आती है। साथ ही नैतिकता और सदाचार को इतने नंगे रूप में दिखाया गया है। किन्तु हमारे यहां 'प्रकृति' मनुष्य जीवन का एक अविभाज्य अंग है। इसलिए हमारा 'नाट्य' एलिजाबेथन थियेटर की तरह प्रकृति को दर्पण की सीमा में नहीं देख सका। उसने मनुष्य और प्रकृति में कोई विभेद नहीं किया। प्रकृति हमारे जीवन में अपनी पूरी विराटता, व्यापकता और गहराई के साथ 'संगी' और 'संगाइनी' रूप में आयी है। हमारे यहां जीवन और प्रकृति के मध्य कोई सीमा रेखा ही नहीं है। क्योंकि हमारे यहां जड़ और चेतन दोनों में समान रूप से एक ही चैतन्य, एक ही तत्त्व व्याप्त है। सौंदर्यबोध के स्तर में यह मान लिया गया है कि जहां सीमाएं हैं, वहां रस की निष्पत्ति नहीं हो सकती, वहां केवल संघर्ष और द्वंद्व का एकांगी प्रदर्शन हो सकता है। रस-निष्पत्ति तो भूमा अनुभूति का ही अखण्ड बोध है। यही नाट्य प्रस्तुति की आधार भूमि है।

प्रश्न है, कौन-सा कर्म रंग लाता है? कर्म की दो कोटियां हैं 'रचना' और 'वासना'। वह कर्म जो 'पुरुष' द्वारा किया गया है वहीं रंग लायेगा, किन्तु जो कर्म विकृत मनुष्य द्वारा किया जायेगा उसमें कोई रंग नहीं आयेगा। उसमें से केवल विपत्ति आयेगी। 'पुरुष' द्वारा किये गये कर्म को हमारे यहां 'शिल्प' और 'कवि कर्म' कहा गया है। अर्थात जो अहंकार से नहीं बल्कि संकल्प से कर्म करता है उसी को हमारे यहां 'पुरुष' संज्ञा मिलती है।

नाट्य में जहां व्यक्ति अभिनेता होता है, सर्जक होता है। कर्ता और सर्जक कौन है? इसका उत्तर हमारे यहां समस्त विद्याओं में दिया गया है। पाणिनि ने कर्ता को परिभाषित किया है 'स्वतंत्रः कर्ता'। पाणिनि का यह सूत्र कर्म, सृजन का रहस्य मंत्र है। जो स्वतंत्र नहीं है वह सृजन नहीं कर सकता।

इस दृष्टि से पश्चिम का मनुष्य स्वतंत्र नहीं है। वह स्वतंत्र नहीं, उल्टे वो दूसरों को परतंत्र बनाता है। उसकी सभ्यता और संस्कृति दोनों में संपत्ति और सुख-वैभव और उत्सव या तो सिर्फ निजी है या सिर्फ राज्य का। वहां सार्वजनिक संपत्ति और उत्सव की कोई अवधारणा ही नहीं। इसीलिए भारत पर उनका राज्य

होते ही उन्होंने सार्वजनिकता का सनातन भाव नष्ट कर अनैतिक रूप से राज्य सरकारी भाव को हम पर लादा। मानो समाज बेदखल कर दिया गया और राज्य मालिक हो गया। इसका भयंकर प्रभाव पड़ा यहां की जीवन पद्धति पर और फलस्वरूप अपनी सनातन कला पर। उदाहरण के लिए—"अंग्रेजी राज कायम होने से पहले भारत में शिल्प यहां के लोगों के जीवन का एक अंग थी, उनकी जीवन शैली थी। उसके लिए कोई अलग एक आर्थिक गतिविधि नहीं थी। वह भारत के स्वाधीन गांवों में लोगों के नित्य जीवन की, एक बुनियादी प्रवृत्ति थी। संपूर्ण जीवन से जुड़ी उस प्रवृत्ति का, अगर मात्र एक आर्थिक गतिविधि के नाते विवेचना करें तो भी वह ऐसी प्रवृत्ति थी जो जीवन की सभी आवश्यकताएं पूरी करती थी। जीवन को समृद्ध करना उसका मुख्य काम था। सरकार की, बाजार की या उद्योगों की जरूरतें पूरी करना तो उसका गौण काम था।"[3]

ठीक इसी संदर्भ और अर्थों में हमारी सारी कलाएं, विशेषकर नाट्य कर्म, हमारे नित्य जीवन की एक बुनियादी प्रवृत्ति थी। इसमें किसी एक व्यक्ति की मिल्कियत और राज्य-अधिकार का प्रश्न ही नहीं था। पर उन्नीसवीं सदी उत्तरार्द्ध में जो अंग्रेजी राज्य के प्रभाव में पारसी थियेटर पनपा उसमें पहली बार पारसी व्यापारियों—काउसजी, खटाऊजी आदि की निजी कंपनियां यहां स्थापित हुईं। आगे इसी में दिल्ली में श्रीराम सेंटर, कमानी थियेटर, बंबई में टाटा परफार्मिंग सेंटर, कलकत्ता में संगीत कला मंदिर, आदि और सरकारी स्तर पर दिल्ली में 'नेशनल स्कूल आफ ड्रामा रिपर्टरी', भोपाल में 'रंगमंडल' आदि की स्थापना से रंगभूमि की सनातन दृष्टि पर पर्दा गिरता चला गया। पर्दे का यह अंधकार अपने रंग प्रकाश से मिटेगा, ऐसा विश्वास है। वह किसी एक के वैभव और किसी राज्य के बल से पुष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि वह सनातन है, परम में भी परम है।

अपनी नाट्य सनातनता, रंग-परंपरा की सामाजिक स्मृति को मिटाना मुमकिन नहीं। अपनी परंपराओं को समझकर अपने वर्तमान काल के मुताबिक अपनी रंगभूमि का स्वरूप बनाना ही सच्चे रंगकर्मियों का सृजन कर्म हुआ करता है। दूसरों के, पराओं का नाट्य ढांचा लेकर कोई अपनी रंगभूमि का सृजन और निर्माण नहीं कर सकता। अपने सृजन और निर्माण के लिए कर्म-श्रद्धा और आत्मविश्वास—यही दोनों सनातन तत्त्व अनिवार्य हैं।

संदर्भ

1. संकेत
2. [illegible] नागवस्था [illegible] । 1.8.15
   [illegible] अ. 5 श्लो. 26

3 [illegible], पृष्ठ 178
[illegible], पृष्ठ 190
4 [illegible] 1954 [illegible], पृष्ठ 14
5 [illegible]
6 [illegible] 2, अंक 2, [illegible] 1980

लोक

आज जब हम ऐतिहा[illegible]
रहे हैं [illegible]
पर है जो 'लोक' [illegible]
विद्वान से लेकर पंडित[illegible]
मूल भाव को [illegible]
और लोक-अवधारणा[illegible]
[illegible], [illegible], अक्सर [illegible]
शरण अग्रवाल जैसे वि[illegible]
भूत, भविष्य और वर्त[illegible]
[illegible] है।" डॉ० राजब[illegible]
को, "ऋग्वेद आदि [illegible]
प्रायः तीन लोकों का [illegible]
'धर्मशास्त्र का इतिहा[illegible]
अन्य कर्म, [illegible]
[illegible], आदि, पुराण [illegible]
है। हजारीप्रसाद द्विवे[illegible]
जनता से लिया है जो [illegible]
की अपेक्षा अधिक [illegible]
भारत की अंग्रेजी[illegible]
से 'फोक' मानकर उसी [illegible]
दृष्टि से भी लोक को [illegible]
पहनावे वगैरह से मि[illegible]
झांकी से जोड़ दिया ! [illegible]

लोक : व्याख्या बिना न पर्याप्ति

आज जब हम 'ऐतिहासिक क्षण' की शक्ति और 'वर्तमान क्षण' के आतंक में रह रहे हैं (ऐसा क्या इस स्थिति में संभव है?) तब इस स्थिति के बिल्कुल दूसरे छोर पर है जो 'लोक' उसके पास जाना क्या कोई आसान काम है? और तब—जब विद्वान से लेकर पंडित, सरकार और साहूकार सबने उसके अर्थ, स्वरूप और मूल भाव को इस कदर नष्ट किया कि उसके ओर-छोर का ही अब पता नहीं। एक ओर लोक-अवधारणा को क्लिष्ट दुरूह और अमूर्त किया, दूसरी ओर इसे अत्यंत ग्राम्य, भोंडा, असल का नकल और 'दिखावटी' वस्तु मान लिया। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल जैसे विद्वान ने कहा, "लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है, जिसमें भूत, भविष्य और वर्तमान संचित है। अर्वाचीन मानव के लिए लोक सर्वोच्च प्रजापति है।" डॉ० राजबली पांडेय ने अपने 'हिंदू धर्म कोश' में लोक की परिभाषा की, "ऋग्वेद आदि संहिताओं में लोक का अर्थ विश्व है।...लौकिक संस्कृत में प्रायः तीन लोकों का ही उल्लेख मिलता है।" पी० वी० काणे के प्रसिद्ध ग्रंथमाला 'धर्मशास्त्र का इतिहास' में धर्मशास्त्र, लोकविधि, पातक, प्रायश्चित्त, कर्म विपाक, अन्त्य कर्म, अशौच, शुद्धि, श्राद्ध, तीर्थ प्रकरण, दान सिद्धांत, व्रत, उत्सव, काल, पंचांग, शांति, पुराण आदि असंख्य बातों में अगली बात 'लोक' की कोई चर्चा नहीं है। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'लोक' का अर्थ 'नगरों व गांवों में फैली उस समूची जनता से लिया है जो परिष्कृत, रुचि-संपन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन की अभ्यस्त होती है।'

भारत को अंग्रेजी सरकार ने लोक को जानबूझकर, गहरी राजनीतिक चाल से 'फोक' बनाकर उसे अत्यंत नीचे ला दिया था। स्वतंत्रता के बाद हमारी सरकारी दृष्टि ने भी लोक को कभी संगीत से, कभी नृत्य से, कभी नाट्य से, कभी रहन-सहन पहनावे आदि से मिलाकर उसे एक ओर टूरिज्म जनता के मनोरंजन विलास की झाँकी से जोड़ दिया। दूसरी ओर 'अकादमियों' में लाकर 'ह्यूमैनिज्म' तक 'लोक'

लोक : आस्था बिना न पर्याप्त

आज जब हम 'ऐतिहासिक कालों' की चिंता और 'वर्तमान क्षण' के आतंक में रह रहे हैं (जैसा क्या इस स्थिति में संभव है?) तब इस स्थिति के बिल्कुल दूसरे छोर पर है जो 'लोक' उसके पास जाना क्या कोई आसान काम है? और तब जब विज्ञान से लेकर संस्कृति, सरकार और बाजारवाद — सबने इसके रूप, स्वरूप और मूल भाव को इस कदर नष्ट किया कि उसके मेरु-पृष्ठ का ही अब पता नहीं। एक ओर लोक-अवधारणा को कितना दुरूह और अमूर्त किया, दूसरी ओर उसे अत्यंत ग्राम्य, भोंडा, बाजार का नकल और दिखावटी वस्तु मान लिया। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल जैसे विद्वान ने कहा, "लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है, जिसमें भूत, भविष्य और वर्तमान संचित है। अर्वाचीन मानव के लिए लोक सर्वोच्च प्रजापति है।" डॉ० राजबली पाण्डेय ने अपने 'हिंदू धर्म कोश' में लोक की परिभाषा दी, "ऋग्वेद आदि संहिताओं में लोक का अर्थ विश्व है।" "वैदिक संस्कृति में प्रायः तीन लोकों का ही उल्लेख मिलता है।" पी० वी० काणे के प्रसिद्ध ग्रंथमाला 'धर्मशास्त्र का इतिहास' में धर्मशास्त्र, लोकविधि, पातक, प्रायश्चित, कर्म विपाक, अन्त्य कर्म, अशौच, शुद्धि, श्राद्ध, तीर्थ प्रकरण, दर्शन सिद्धांत, व्रत, उत्सव, काल, पंचांग, शांति, पुराण आदि असंख्य बातों में असली बात 'लोक' की कोई चर्चा नहीं है। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'लोक' का अर्थ नगरों व गांवों में फैली उस समूची जनता से लिया है जो परिष्कृत, रुचि-संपन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन की अभ्यस्त होती है।'

भारत की अंग्रेजी सरकार ने लोक को जानबूझकर, गहरी राजनीतिक चाल से 'फोक' मानकर उसे अत्यंत नीचे ला गिराया। स्वतंत्रता के बाद हमारी सरकारी दृष्टि ने भी लोक को कभी संगीत से, कभी नृत्य से, कभी नाट्य से, कभी रहन-सहन पहनावे वगैरह से मिलाकर उसे एक और छब्बीस जनवरी के गणतंत्र दिवस की झांकी से जोड़ दिया! दूसरी ओर 'अकादमियों' से लेकर 'टूरिज्म' तक 'लोक'

को एक 'माल' के रूप में देखा गया। इसी की अनिवार्य परिणति यह हुई कि कोई रामलीला, कोई रासलीला, कोई भवाई, कोई तमाशा, कोई यक्षगान, कोई छऊ, कोई माच, कोई नौटंकी आदि को अपने इस सांस्कृतिक लूटपाट में जिसके जो हाथ लगा, उसे लिये हुए वह सीधे भाग फिर देश की राजधानी दिल्ली के राज दरबार में दौड़ा। फिर उसके बाजार में बिक पड़ा। फिर क्या था 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' से लेकर अपने आपको आधुनिक कहनेवाले समस्त रंगकर्मियों ने अपने-अपने ढार रजाई, ढोल, मजीरा, ग्रामबोली, विशेष नृत्य चाल, नाच, भग, माला, टाट मान-कर उसे नाट्य प्रदर्शनों में पैबंद की तरह टांक दिये और घोषणाएं कीं ... प्रयोग करने की, भारतीय लोक नाट्य की खोज की, अपनी परंपरा की तलाश की ... पूरब-पश्चिम के समन्वय की ...। और न जाने कितना क्या-क्या ?

सैकड़ों वर्षों के लंबे काल तक जब किसी विशेष भाव और प्रतीति का अनुभव समाज को मुअस्सर होता न हो, तो वह कितना अस्पष्ट और अगोचर होकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, यह लोक की परिभाषा, अवधारणा के दृष्टांत से बिलकुल स्पष्ट है। लोक ही भारतवर्ष था। जब वह लोक ही नहीं रहा, तो उसमें अलौकिक भारतवर्ष कहां होगा? जो लोक अपनी उपस्थिति से हमारे पूर्वजों को इतना संपन्न करता रहा, उसी की अनुपस्थिति से आज हम इतने कंगाल हो गये कि सबको गुलाम की नजरों से देखने के लिए बाध्य हुए। आज उस लोक की अनुपस्थिति को अनुभव से ही अपनी बची-खुची प्रज्ञा से उसमें साक्षात्कार कर रहा हूं, जो पहले कभी थी और हमारे अस्तित्व के साथ जुड़ी थी, और अब जो नहीं है। बिना किसी समुचित ज्ञान और वास्तविक अनुभव के लोक (प्रकाश) के प्रति श्रद्धा की आकांक्षा में मेरे भीतर जो सहज ही कुछ झिलमिला रहा है, उसे आपके साथ मिलकर जी सकूं, उसी विरोधाभास के साथ।

सविनय उसी कथा का सूत्र थामता हूं जो हमारे पूर्वजों ने कही है। त्रेतायुग में वैवस्वतमन्वंतर के आरंभ हो जाने पर (नाट्यशास्त्र – प्रथम अध्याय, नाट्योत्पत्ति) जब संसार के सुख में दुःख भी प्रविष्ट हो गया तब इंद्र के साथ देवताओं ने ब्रह्मा के पास जाकर निवेदन किया कि हमको ऐसी 'क्रीडनीयक' (खेलने योग्य) वस्तु चाहिए जो सर्वथा देखी और सुनी जाने योग्य हो। महाराज, यह जो वेदव्यवहार है, चारों वेद हैं, वह तो सबके देखने-सुनने के लिए नहीं हैं। अतएव आप एक पांचवें वेद की रचना कीजिए जो सबके काम का हो। ब्रह्मा ने योगविद्या से चारों वेदों के आवश्यक अंगों से पांचवां वेद – नाट्यवेद – निर्मित किया। इस प्रकार पंचम वेद की सृष्टि करके ब्रह्मा ने इंद्र से कहा कि मैंने इतिहास की रचना कर दी। जो

देवता चतुर और परिश्रमी हों उनके द्वारा इसका अभिनय किया जाना चाहिए। इंद्र ने कहा, देवता नाट्यकर्म में अक्षम हैं। तब ब्रह्मा ने भरत मुनि को उनके सौ पुत्रों के सहित इस कार्य के लिए नियुक्त किया। भरत मुनि ने प्रथमतः भारती, सात्वती और आरभटी वृत्तियों से युक्त अभिनय की तैयारी की, पर तब ब्रह्मा ने कैशिकी वृत्ति की योजना की आवश्यकता बतलाई तो भरत मुनि ने अप्सराओं की मांग की। ब्रह्मा ने कैशिकी वृत्ति के लिए उपयुक्त अप्सराएं भरत मुनि को प्रदान कीं। गायन के कार्य के लिए नारदादि गन्धर्वों की योजना की गयी। इतनी तैयारी के पश्चात इंद्रध्वज के उत्सव के समय 'असुरनिधन' नाटक का अभिनय किया गया। देवताओं ने अभिनय से प्रसन्न होकर भरत मुनि और उनके पुत्रों को अनेकों उपहार प्रदान किये। परंतु क्योंकि इस नाटक में दानवों की पराजय प्रदर्शित की गई थी अतएव उन्होंने अपनी अप्रसन्नता प्रकट की और अभिनय में विघ्न उत्पन्न करने आरंभ कर दिये। इस पर इंद्र ने क्रुद्ध होकर ध्वज को लेकर उसकी मार से असुरों के शरीरों को जर्जर (छिन्न-विछिन्न) कर दिया। इस प्रकार ध्वज से ही जर्जर की उत्पत्ति हुई। पर विघ्न फिर भी बने ही रहे। तब ब्रह्मा ने विश्वकर्मा को नाट्यगृह बनाने का आदेश किया। विश्वकर्मा ने नाट्यवेश्म की रचना की और उसमें नाटक की रक्षा करने के लिए सब देवता यथास्थान नियुक्त कर दिये गये। इस प्रकार नाटक की उत्पत्ति हुई। ब्रह्मा ने इसके इतिहास की सृष्टि की, शिव और शिवा ने इसमें ताण्डव और लास्य की क्रमशः योजना की और विष्णु ने चारों वृत्तियां प्रदान कीं।

इस कथा का मतलब क्या है? इसका उत्तर हमें अपने वर्तमान समय के प्रसंग में चाहिए। (और उस पर यूरोप के किसी व्यक्ति, चाहे वह कोई 'अन्तर्विद्या विशारद' ही क्यों न हो, उसके भाष्य की मुहर लगी फिर तो क्या कहने! पर आप यह जानकर निराश होंगे कि पश्चिम वालों यूरोप में ऐसी कथा की कोई परिकल्पना ही नहीं है, तभी तो वहां 'ड्रामा' का जन्म हुआ और हमारे यहां 'नाट्य' का!)

हां, तो इस कथा का मतलब क्या है? देवताओं के पास सब कुछ था, पर उस सबके बावजूद वह कौन-सी वस्तु नहीं थी, जिसके बिना वे इतने व्याकुल थे? आप खुद सोचिये, आपके पास सब कुछ हो, पर दर्पण, आइना या वह वस्तु न हो, जिसमें आप अपने-आपको देख सकें, तो आपकी क्या दशा होगी? अपने आपको देखना, वह भी नाट्य दर्पण में खुद द्वारा 'रूपायित', 'नाट्यांत' करके देखना और दिखाना क्यों इतना अनिवार्य है?

लोक शब्द 'लोक-दर्शने' धातु में घञ् प्रत्यय लगाकर बना है जिसका अर्थ है— देखना, प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करना, सम्पूर्णता में देखना, अभिज्ञान प्राप्त करना, मनुष्य या देवता, (इतिहास पुरुष, पुराण पुरुष) उतना ही नहीं है, जितना उसे आत्म-चेतना के रहते सपने होने का अहसास होता है बल्कि इसी आत्म-चेतना के कारण उसे अपनी किसी अदृश्य अज्ञात अधूरेपन की भयंकर सीमा भी महसूस होती

है। इसके पहले और आगे — प्राणिमात्र की उत्पत्ति और समाप्ति अदृश्य और अज्ञात रहती है। केवल मध्य व्यक्त रहता है :

> अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
> अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥भ० गी० 2/28

यह जो अव्यक्त है, अदृश्य है, जो कहीं कालखण्ड के अंधेरे में छिपा है — मनुष्य अनिवार्यतः उसको अपनी संपूर्णता में देखना चाहता है। जो अदृश्य है, अंधेरे में छिपा है उसको देखना चाहता है और देखने के अनुभव का आनंद लेना चाहता है अर्थात् वह अपना पुनः सामना करता है और उन अनुभवों से गुजरकर उसके पूरे भावों को समाहित करता है, जिसके बिना वह मंच पुरुष अभी तक अधूरा था, अप्रभावित था। पूर्व-भविष्य, जन्म मृत्यु के गर्भ में अदृश्य और अज्ञात था।

अदृश्य जब दृश्यमान होता है, अशरीरी, सूक्ष्म जब रूप ग्रहण करता है, जो अंधेरे में था और जो अब 'जीवन' बना है — वहीं [illegible]। और जैसे ही वह आंकित होता है, वैसे ही उत्पत्ति और मुक्ति के बीच समस्त संबंध धीरे-धीरे, [illegible] के साथ उद्घाटित होने लगते हैं। कल्पना कीजिए उत्तरी [illegible] के बाद 'कुलविजन' नाट्य का अभिनय देखनेवाले ने, देवताओं और राक्षसों और भूमिकाओं में स्वयं को जब देखा होगा तो उसे क्या अनुभव हुआ होगा? उन्हें पहली बार प्रत्यक्ष अनुभव हुआ होगा — जैसे प्रकाश का स्वभाव है प्रसरण — सब ओर फैलना। जैसे फैली हुई प्रकृति का मनुष्य — यही देवता है, यही राक्षस है! जीवन में वह अपने लिए और केवल अपनी आँख से देख रहा था, पर लोक (नाट्य) में वह सबकी आँखों से अपने को देख रहा है। लोक रंगभूमि पर सब एक-दूसरे की आँख हैं। सब एक-दूसरे के रंग हैं। सबके विविध रंग से एक विराट लोक रंग निर्मित हुआ है।

इस लोक का साधन पक्ष या साधना पक्ष है श्रद्धा — और साध्य है विश्वास। साधन-साधना पक्ष है भवानी-पार्वती और साध्य हैं शिव शंकर :

> भवानी शंकरौ वंदे
> श्रद्धा विश्वास रूपिणौ।
> याभ्यां विना न पश्यन्ति
> सिद्धाः स्वान्तः स्थमीश्वरम् ॥ (मानस-बालकांड 2)

लोक को प्रत्यक्ष वही देख सकता है, या उसे स्वरूप दे सकता है जिसमें श्रद्धा हो। श्रद्धा माने? श्रत् — सत्य को जो सत्य को धैर्य से देखे फिर उसे धारण करने में समर्थ हो। जैसे हमारे समय में रामकृष्ण परमहंस और महात्मा गांधी — श्रद्धा के प्रतिरूप हुए हैं। सत्य के प्रति धारणा शक्ति से मनुष्य ने रंगभूमि पर एक ओर अपना अदृश्य, अज्ञात रूप को देखकर अपना संपूर्ण प्रकट रूप और दृश्य देखा। दूसरी ओर उसने देखा प्रतिक्षण अन्तर्धान होता जो कभी चुकता तो नहीं, जो निरंतर पूरा होता रहता है और काल का दूसरा रूप जो निरवधि अपार काल है — शिव-शंकर अर्थात

विश्वास । विश्वास — यह प्रत्यक्ष विश्वास कि हर क्षण को दूसरे क्षण से जोड़ना ही जीवन है । यही 'लोक' है । यह प्रत्यक्ष विश्वास कि यहां इस रंगभूमि पर जन्म लेना, जीवन का अंकुरित होना, फूलना, फलना, पुनः बीज बनना और पुनः जन्म लेना यह सब एक वृत्त में चल रहा है । जैसे कथा नहीं बीतती वैसे ही देखना, मनुष्य, प्रकृति, वृक्ष, जीवन-मृत्यु आदि कुछ नहीं बीतता । इस विश्वास से जब अपने और अपने से बाहर देखोगे तभी तुम जीवन के रस का स्वाद पाओगे । तभी तुम सर्वमय होकर सबको देख सकोगे । तभी तुम संपूर्ण बन सकोगे, अपने अधूरेपन से निष्कृति पा सकोगे । लोक दृष्टि ही हमें यह शक्ति देती है कि हम काल में रहते हुए भी काल-निरपेक्ष हो सकते हैं । रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत, सारी भारतीय कथाएं, आख्यान — और इन पर रची-बसी रामलीला, यक्षगान, कथाकली — समूचा प्राचीन भारतीय नाट्य-लोक ही लोक है । जब हम रामलीला, [illegible] चरित या [illegible] का नाट्य देखते हैं — आज भी देखते हैं तो क्या हम अपने वर्तमान में रहते हैं ? क्या हम उसी अतीत में नहीं चले जाते अपने काल से निरपेक्ष होकर । राजा भरथरी की घटना जाने किस काल में हुई होगी पर आज भी वह हमारे साथ है । दुष्यंत से कवि नाट्यकार पूछता है कि वह क्या कर रहा है ? दुष्यंत कहता है कि चित्र बना रहा हूं । सब बना चुका हूं । कण्व का आश्रम । सिर्फ यह बनाना शेष रह गया है । वृक्षों की छाया में दो हिरण, नर-मादा । मादा नर की सींग पर अपनी आंख खुजा रही है । मानो जब दंपति अपने अत्यंत कोमल को किसी कठोरतम पर रखे और विश्वास माने कि उसका अमंगल नहीं हो सकता । दुष्यंत कहता है कि मैं यही नहीं कर पाया । प्रेम (श्रद्धा) की बुनियाद है यही विश्वास; यही जब बार-बार से दुष्यंत प्राप्त करता है तभी उसे शकुंतला मिलनी है, वरना नहीं !

श्रद्धा और विश्वास, भवानी और शंकर — लोक के दो अधिष्ठान हैं. एक स्तर पर वे दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं । किंतु दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं । दोनों को एक समय में एक साथ हम अनुभव कर सकते हैं । और एक के बिना दूसरे की कल्पना तक नहीं कर सकते । श्रद्धाविहीन होकर जगत — सृष्टि समाज और जीवन — की धारणा असंभव है । इसलिए जहां लोक है वहां अनिवार्यतः सर्वत्र गौरा पार्वती, भवानी और शंकर भोले नाथ रमे हुए हैं । भवानी-शंकर के विवाह का मंगल गाये बिना कोई विवाह नहीं पूरा होता । उनके साथ साक्षी के बिना कोई दशा, व्रत और उत्सव संपन्न नहीं होता । शिव-पार्वती साक्षात् लोक हैं । इसलिए कोई कितना भी साधनहीन क्यों न हो, अगर उसमें श्रद्धा भाव है तो गोबर माटी से शिव पार्वती को मूर्त कर लेता है । गोबर से गौरी और गणेश बन जाते हैं । श्रद्धा-युक्त कोई भी जन सहज ही मूर्तिकार हो जाता है । साधन से साधनहीन स्त्री-पुरुष राजा दशरथ और रानी कौशल्या हो जाते हैं । कोई भी अपने दरवाजे पर, विवाह मंडप के सामने, तीज-त्योहार की भूमि को सहज ही 'रंगभूमि' में निर्मित कर सकता

था । साधन केवल श्रद्धा, साध्य वही शिव-विश्वास । कोई भी शिव बन सकता था, कोई भी राम, कोई भी कृष्ण, कोई देव या कोई [illegible] हो सकता था । भगवान-अवतार ब्रह्मा, विष्णु, महेश सभी श्रद्धा और विश्वास [illegible] इसलिए भी सब अपनी इच्छा-अनुरूप उन्हें साक्षात् मूर्ति बना देने के लिए स्वतंत्र हैं । सभी को यह विश्वास आज भी है कि जहाँ रामकथा (रामलीला) होती है, वहाँ हनुमान दर्शक-श्रोता रूप में आ बैठते हैं । जहाँ भी कोई 'नाट्य' होता है वहाँ शिव-पार्वती अवश्य विराजमान होते हैं ।

शिव (विश्वास) ही लास्य है । सभी [illegible] शिव का दृश्य रूप, इसका स्वरूप इतना बौ[illegible] इतना मर्मस्पर्शी, अगाध और इतना निगूढ़ है [illegible] पर जीवन इतना परिष्कृत, इतना समृद्ध और इतना विराट है !

प्राचीन भारतीय कला — संगीत, नृत्य और नाट्य (अभिनय) में, यहाँ तक कि जीवन के लोकाचारों में, प्रथाओं में [illegible] भौतिक और प्रत्यक्ष हैं, पर साथ ही उतने ही वे सूक्ष्म और गहरे हैं कि उनका वास्तविक मूल भावार्थ के अंदर [illegible] हमारे हाथ [illegible] जाते हैं । [illegible] का [illegible] वह जितनी [illegible] में [illegible] है, उतनी ही [illegible] वह [illegible] मर्म भी जानता है । वह धर्म, [illegible] देखता भी नहीं जानता । हिंदू धर्म (सनातन) में [illegible] के उपादान, [illegible], हल्दी, दूध, [illegible], पत्थर, हल [illegible], [illegible] आदि इसी रूप में आता है । हल्दी [illegible] का रूप है । [illegible] एक शंकर, एक भवानी ! [illegible]-[illegible] [illegible] लिए कोई वेद शास्त्र [illegible] हैं, पर हल्दी के [illegible] बिना कोई भी वस्तु, कोई भी [illegible] मांगलिक कार्य के लिए [illegible] नहीं हो सकते ।

(भारतीय नाट्य का [illegible] और पाश्चात्य-आधुनिक [illegible] का चरित्र दोनों के बुनियादी [illegible] नहीं [illegible] है ।)

क्योंकि हल्दी [illegible] है, [illegible] बहुत [illegible] है । जहाँ ऐसी श्रद्धा है वहाँ विश्वास का [illegible] निश्चित है । [illegible] है, [illegible] की गहराई उसके गंभीर, गंभीरतर होती चली गई है ।

'नाट्य' (अभिनय) में [illegible] और संगीत (नृत्य-नृत्त और [illegible]-[illegible]) ये दो ऐसे तत्त्व हैं, जिनके [illegible] के माध्यम काल [illegible] और [illegible] दोनों एक 'भूमि' पर आकर [illegible] [illegible]-[illegible] कर पाते हैं । जिस प्रकार किसी विशेष भूभाग, [illegible] (जैसे [illegible] किसी सीमित क्षेत्र, जैसे काशी, अयोध्या, [illegible], वृंदावन [illegible] ही संभव है ।) में ही सीमित रहते हुए [illegible] का अतिक्रमण [illegible] अपना लक्ष्य माना, उसी प्रकार वर्तमान काल में रहते हुए, [illegible] अनुभव करते हुए

की इसका अतिक्रमण करता हुआ भी [illegible] का रहा है।

भाषा और संस्कृति [illegible] सूर्य और [illegible] के अन्तः-सम्बन्ध [illegible] किसी विशेष [illegible] और [illegible] के साथ [illegible] है। [illegible] है। और [illegible] विशेष हर [illegible] विशिष्ट [illegible] का [illegible] में स्वयं बदल [illegible] फिर भी [illegible] अतिक्रमण [illegible] कभी चुकता ही नहीं [illegible] जब [illegible] बाद [illegible] सम्पन्न हो [illegible] है, फिर भी [illegible] दिन में, [illegible] भाव-व्यञ्जना [illegible] भावना [illegible] दृश्य के [illegible] दिशा की ओर [illegible] करता है? [illegible] प्रत्यक्ष [illegible] और [illegible] भावना [illegible] :

[illegible] है। [illegible] और [illegible] कोई [illegible] सम्पन्न नहीं [illegible] काल में ही [illegible] है! [illegible] अनिवार्य [illegible] हैं जिनके बिना कोई सृष्टि सम्भव नहीं होती।

[illegible] अर्थात् [illegible] "परमात्मा को देखना [illegible] नहीं है, अनिवार्य [illegible] का अभिज्ञान चाहिए।"

[illegible] और अभिज्ञान [illegible] मुझे 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' नाटक का अर्थ [illegible] अभिज्ञान का अर्थ है [illegible] शकुन्तला को [illegible] अंगूठी [illegible] शकुन्तला [illegible] दुर्वासा [illegible] के [illegible] दुर्वासा की ओर [illegible] नहीं दिया। उन्हें प्रणाम नहीं किया। दुर्वासा [illegible] शकुन्तला [illegible] किन्तु [illegible] नहीं [illegible] उन्होंने शाप दिया — तुम जिसके [illegible] नहीं [illegible] पहचानेगा [illegible] नहीं। [illegible] अभिज्ञान [illegible] पहचान [illegible] की अंगूठी [illegible] है, [illegible] तुम्हें [illegible] पहचानेगा, [illegible] वह अंगूठी फिर मिल जायेगी।

अंगूठी की भाँति [illegible] अभिज्ञान है, वह [illegible] किन्तु हृदय का अभिज्ञान [illegible] नहीं। [illegible] है।" ([illegible], भक्तियोग स्वामी [illegible]) अभिज्ञान की इसी भूमि पर आकर [illegible] सृष्टि हो जाती है। [illegible] नाट्यकार, संगीतज्ञ, अभिनेता और दर्शक [illegible] हैं। [illegible] नहीं थे — [illegible] नहीं [illegible] नहीं होंगे, वही हमारी गवाह है।

जरा कल्पना कीजिए, इस 'लोक' के बारे में। जरा-सी भी समझ से आधुनिक बोध वाले भारतीय पाठक अंग्रेजों को कितना जबरदस्त धक्का दिया होगा। क्योंकि एक हाथ में बाइबिल, दूसरे हाथ में विज्ञान का डंडा लिये हुए, वे स्वयं संसार के साक्षी होने का दंभ लिए भारतवर्ष आये थे। जो अपने इतिहास को ही सब कुछ मानते थे और उसी इतिहास के अधीन भारत को पराधीन करने आये थे। जिनके चरत चित्त में [illegible] शत्रु है, मात्र शोषण-पदार्थ है। ऐसे अंग्रेज ने भारत में आकर जब पहली बार यह सुना और देखा कि यहाँ तो पुराण का ही आदर है, वृंदावन स्वयं कृष्ण है, अयोध्या राम का वह हृदय है जहाँ कोई युद्ध नहीं —युद्ध —अयोध्या! नहीं है, जगन्नाथपुरी साक्षात् जगत के नाथ की पुरी है, मथुरा भगवान की लीलाभूमि है —जो अलग नाम बने नाद हुई फिर वही, जो आज भी लीला भूमि है इनमें उनके इतिहास बोध और विकासवाद पर और उससे ज्यादा उनके साम्राज्यवादी अहं पर कितनी मर्मांतक चोट लगी होगी, आज हम उसकी महज ही कल्पना कर सकते हैं। इसकी प्रतिक्रिया में, 'लोक' के इस विनाश के लिए साम्राज्यवादी, उपनिवेशवादी अंग्रेजों ने क्या कुछ किया, इसका एक ही प्रमाण पर्याप्त है।

सन् 1909 में डॉ. आनंद कुमारस्वामी ने भारतवर्ष के सांस्कृतिक पतन और कला-दृष्टि-विनाश पर एक पुस्तक लिखी —'एसेज इन नेशनल आइडियलिज्म'। इस पतन और विनाश में भारत में अंग्रेजी राज को इसका मुख्य कारण बताया। उस पुस्तक पर 22 सितंबर, 1909 के 'स्टेट्समैन कलकत्ता' ने इसके महत्त्व पर एक संपादकीय लिखा और कुमारस्वामी के मत की पुष्टि की। इस पर श्री अरविंद ने 'कर्मयोगी' कलकत्ता, दिनांक 25 सितंबर, 1909 में एक लेख लिखा, जिसका शीर्षक था, 'द पास्ट एण्ड द फ्यूचर'। अपने इस लेख में श्री अरविंद ने लिखा— "हम यह याद भी रखना चाहिए कि (भारत में) यह पतन, अराष्ट्रीयता (अराष्ट्रीयता)—हमारी आत्माओं का कर्कश विनाश जिसकी कि लेखक (कुमार स्वामी) ने कल्पना की है, वह आखिर क्यों आया? दुःखद तो यह था ही किंतु इसका कोई तो उपचार होना ही था। इसके लिए भारत पर अंग्रेजी-राज ही सबसे अधिक उपयुक्त निदान था। अतः ईश्वर ने इन्हें सात समुद्र पार से उन्हें हमारी मुक्ति-कल्याण के लिए भेजा। इसके लिए ईश्वर ने उनके दिलों में अनिवार्य उत्साह और बुद्धि में पर्याप्त शक्ति प्रदान की। अंग्रेज ईश्वरीय उसी इच्छा की पूर्ति पूरी ईमानदारी और निष्ठा से कर रहे हैं..."[12]

भारत पर अंग्रेजों के राज को ईश्वरीय न्याय मानकर अरविंद जैसे महापुरुष ने तत्कालीन भारत की सांस्कृतिक स्थिति को जिस रूप में देखा, वह अत्यंत लज्जा-जनक है। इससे ही प्रकट है, भारतीय 'लोक' का —उसके प्रति हमारी चेतना, अव-धारणा और मनोरूप का कितना पतन हुआ। यही भारतीय मानस की वास्तविक कुंठा है। यही वास्तविक लक्ष्य था भारत में अंग्रेजी राज का। बिना इस अनिवार्य

विनाश के अलावा इस देश में इतने समय तक अंग्रेजों का शासन, शोषण और लूट संभव नहीं थी। इस विनाश की ओर सबसे पहले ध्यान गया स्वामी रामकृष्ण परमहंस का, फिर महात्मा गांधी का। इनकी ओर स्वभावतः किसी राजनीतिक की दृष्टि नहीं गयी। धर्म लोक का ही पर्याय है। लोक धर्म का व्यावहारिक, प्रत्यक्ष रूप और आचरण है। लोक को बिना धार्मिक हृदय, श्रद्धा, विश्वास के देख पाना संभव नहीं है। इसीलिए इस आत्मिक 'विनाश और सांस्कृतिक संकट' को केवल परमहंस और महात्मा ने ही देखा। शेष सब अंग्रेजों के उपनिवेशवादी सर्वनाशी राजनीतिक 'दुनिया' में बह गये।

श्री रामकृष्ण वचनामृत (प्रथम भाग, पृष्ठ ...) में एक नन्ही सी घटना है। श्री रामकृष्णदेव के कमरे में धूप की सुगंध भर रही थी। मास्टर अंग्रेजी पढ़े-लिखे आदमी हैं। सहसा घर में घुस न सकते थे। द्वार पर वृंदा (नौकरानी) खड़ी थी।

मास्टर ने पूछा — "साधु महाराज क्या इस समय भीतर हैं?"

उसने कहा, "हाँ, वे भीतर हैं।"

मास्टर — वे यहाँ कब से हैं?

वृंदा — वे? बहुत दिनों से हैं।

मास्टर — अच्छा, वो पुस्तकें खूब पढ़ते होंगे?

वृंदा — पुस्तकें? उनके मुँह में सब कुछ है।

यह लोकवाणी है, उसी में सब कुछ समग्र है। वहाँ हर क्षण सब कुछ सर्वांश देखता है। महात्मा गांधी बड़े लोक पुरुष थे। रामराज्य, ग्राम-स्वराज की बात करते हुए उन्होंने भारतीयों के स्व-अर्जित जीवन के प्रकाशमय रूप को अपनी सम्पूर्ण प्रज्ञा से देखा था, जिसकी साधना द्वारा सहस्र वर्षों से सतत् प्रवाहित होती आ रही थी। उसी आत्मपर्व में, यानी पुनः लोक छवि में (विशेषतः उसका पहनावा, रहन-सहन, बोल-चाल, कर्म आचरण और पूरा चरित्र) और अपने-आप से बिल्कुल इसी तरह रामकृष्ण का रहन-सहन, धर्म आचरण, भोजन वस्त्र। गांधी महात्मा बन-कर भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन थे, सभी उनके साथ ऐतिहासिक दृष्टि से अदलाव के साथ सांस्कृतिक जागरण था। स्वराज भी बदला। उसमें आगे हुए अपने जड़ों को छोड़, अपनी बुनियाद ही गलाया।

अपनी जड़ों से ही तो अपनी अस्मिता और पहचान होती है। लोक की खोज, उसकी पुनर्प्रतिष्ठा ही बुनियादी धर्म है। इसी के पीछे अपनी जातीय स्मृतियों का आग्रह अनिवार्य होता: साहित्य और कला, इतिहास के प्रति अपनी दृष्टि का सम्यक् होना चाहिए। हमारे लोक को किस तरह अंग्रेज उपनिवेशवाद के आधुनिकता-वाद ने अपनी सत्ता को मानने और जमाने का प्रयत्न किया, उसका ज्ञान आवश्यक है। अब तक हमारी सांस्कृतिक भावना के कारण हमारे ही माध्यम से वह इसे कैसे कर रहा है, इसे भी देखना चाहिए। लोकगीत, कथाओं में ...-...कार जिस

[illegible] प्राचीन [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible], [illegible] आदि
[illegible] की [illegible] आधुनिक [illegible] [illegible], [illegible]
[illegible] और [illegible] की [illegible] [illegible] भी [illegible]
और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] और [illegible] के लिए
जिस चरित्र और [illegible] [illegible] है, [illegible] लिए [illegible] [illegible]
[illegible] हूँ।

[illegible] हमारे [illegible] [illegible] कारणों से और राजनीतिक [illegible]
[illegible] है [illegible] [illegible] हमारे [illegible]
है, [illegible] हमारे [illegible] का [illegible] नहीं [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नहीं
है। [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible]
[illegible] [illegible]

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] कर्म [illegible]
[illegible] है। [illegible] [illegible] और [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] आपने ?

[illegible] [illegible] आत्म-विश्वास [illegible] है कि
[illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] का
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] और [illegible]।

[illegible] [illegible] [illegible] और
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] और [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हमारे [illegible]
में है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] है। हमारे [illegible] [illegible] और [illegible] का [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] आधुनिक
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] है कि [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] [illegible]
और [illegible]
[illegible] [illegible]
संदेह का [illegible]
था। हम [illegible]
[illegible]
[illegible] [illegible]

संदर्भ

1. [illegible]
2. We must [illegible]
[illegible]
complaints [illegible]
had to be [illegible]
[illegible]
those [illegible]
their [illegible]
India to [illegible]

[illegible] और [illegible] हमने [illegible]
और अंधकार के [illegible] दिया [illegible]!

हमने [illegible] काल [illegible] है। हमारे [illegible] होता [illegible] सकते हैं। [illegible] है हम [illegible] हमारे [illegible] है।

सन्दर्भ

1. [illegible]
2. We must remember also why the degradation and denationalisation ("the mighty evil in our Souls") of which the writer complains, came into being. A painful but necessary work had to be done, and because the English nation were the fittest instrument for his Purpose, God led them all over those thousands of miles of alien Ocean, gave Strength to their hearts and Subtlety to their brains and Set them up in India to do His work, which they have been doing faithfully.

[KARMAYOGIN, Calcutta, No. 14,
September 25, 1909 —
Reference : COOMARSWAMY
From [illegible] ARCHIVES]

दशों ने [illegible] हमने आलोक और अंधकार के बीच [illegible] दिया !

हमने [illegible] काल की [illegible] रहे। हमारे [illegible] होना पड़ा था। [illegible] सकता है। [illegible] है हम [illegible] हमारे [illegible] है।

संदर्भ

1. [illegible]
2. We must remember also why the degradation and denationalisation ("the mighty evil in our Souls") of which the writer complains, came into being. A painful but necessary work had to be done, and because the English nation were the fittest instrument for his Purpose, God led them all over those thousands of miles of a ten Ocean, gave Strength to their hearts and Subtlety to their brains and Set them up in India to do His work, which they have been doing faithfully.

[KARMAYOGIN, Calcutta, No. 14,
September 25, 1909 —
Reference : COOMARSWAMY
From a home ARCHIVES]

रूपकत्व और नाटकत्व

आज हम प्रायः अपने नाट्य का 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' —इस सूत्र के सहारे बिल्कुल गलत अर्थ लगाते हैं कि अभिनय में पात्रों को 'तादात्म्यापत्ति' हो जाय।

वस्तुतः इस अनर्थ के पीछे पश्चिमी ड्रामा के 'इमोशन' का कुप्रभाव है। अनुकृति बिल्कुल अलग चीज है। यह 'तादात्म्यापत्ति' नहीं है। इसका अर्थ रूपक में छुपा है। रूपक का जो रूपकत्व है, वही नाट्य की 'अनुकृति' के अर्थ का केंद्र-बिंदु है। इसलिए सर्वप्रथम रूपकत्व को समझना अनिवार्य है।

नाट्य केवल श्रव्यकाव्य नहीं है। काव्य है, पर ऐसा काव्य जो रंगभूमि पर प्रस्तुत होता है। प्रस्तुत, यानी अभिनीत होकर दृश्य होता है। दृश्य यानी उसका एक संपूर्ण 'रूप' प्रेक्षक-दर्शक समाज के सामने प्रस्तुत किया जाता है।

रूपक का यहाँ विशिष्ट अर्थ है, अलौकिक। लौकिक की जब अनुकृति होगी और अनुकृति तभी संभव है जब उसमें आनंद भाव होगा। आनंद आते ही लौकिक का अलौकिक हो जाना अनिवार्य है। यह कार्य-कारण, कारण-कार्य की सहज प्रक्रिया है।

रूपक का आधार रूप है। रूप का अर्थ है — वह दृश्य जो आभा हमारी आँखों से दिखाई दे रहा है, शेष आभा जो अदृश्य है, उसका हम अनुमान कर सकते हैं। जितना देखना संभव है, उतना देखना, शेष अपने चित्त में अनुमान करना, यही है रंगभूमि की प्रेक्षणीयता। अर्थात् रूप का स्थूल पक्ष दृश्य है, पर उसका दूसरा सूक्ष्म पक्ष भी अदृश्य है, जो उसका सौंदर्य पक्ष है, जो रूप की आभा है, जो प्रेक्षक को सहज अभिभूत कर उसे द्रष्टा बना देती है। वही तो है रंगभूमि का नाट्य। नाट्य भी लौकिक अवस्था की अनुकृति।

रूप शब्द का अर्थ दृश्य जैसे स्पष्ट होता है, यानी संपूर्ण दृश्य, पूर्ण रूप वह रूपक में ही समझा जा सकता है। कठोपनिषद में रथ का रूपक है, जिसमें आत्मा रथी है। बौद्ध गाथा में एक रूपक है जहाँ मनुष्य एक ऐसा रथ है, जिसमें कोई रथी ही नहीं है। इसके बिना ही रथ चल रहा है। लेकिन आमतौर हम सोचते हैं कि हम

रूप पर आधार है। इसका कारण है, स्थूल जगत में अपनी स्थिर अभिव्यक्ति सदा। नहीं रूप धारित है। उससे मुक्ति के लिए भाव से अनुभव की ओर, दृश्य से रूप की ओर निरंतर अनुभूतिपरक दृष्टि ही व्यापक है। रूप के प्रसंग में अनुभाव के बाहर कोई अनुकृति या नहीं है। अनुभव एक ऐसा प्रवाह है जो अंतर से ही आंतरिक स्रोतों से भरता है। इसी से अपने यहाँ पात्र की दृष्टि और भावना है। इसी भूमि से उपजा है रूपक का रूपकत्व। इसी से उदित है भारतीय नाट्यकला। इसी से प्रकट है भारतीय अभिनय। नाट्य की वैलक्षण्यता।

दशरूपक, अभिनव भारती, अभिनय दर्पण, यहाँ तक कि नाट्यशास्त्र जैसे संस्कृत ग्रंथ इस अर्थ में अधूरे और रूपक के विशेष संदर्भ में आलोच्य हैं कि इनमें से किसी में भी 'रूपक' की कोई परिभाषा नहीं है। सिर्फ रूपक के बाहरी भेद हैं।

इसी विश्लेषण विचार से, रूपक के प्रति हमारी अपनी दृष्टि ओझल है, जो रूपक का भी प्रतिनिधि प्रकार है — नाटक, उसके नाटकत्व में क्षीण होने के कारण ही दुर्भाग्य से आधुनिक काल में हमने नाटक को पर्याय ड्रामा समझ लिया और ड्रामा का पर्याय नाटक।

ईसा पूर्व की अंतिम चार शताब्दियों में भारतीय कला, नाट्य अर्थात हमारी पूरी संस्कृति, एक बहुत बड़े परिवर्तन से गुजरी। विभिन्न राजवंशों का निर्माण और पतन। नाना प्रकार के विदेशी आक्रमण और विजय से सैनिक, व्यापारिक, धार्मिक संबंध, इस बड़े परिवर्तन का विचित्र आधार बना प्रस्तुत करते हैं। उनमें आत्म-विस्तार का एक सशक्त प्रमाण है रूपक यानी स्थापत्य की कला का अपूर्व विकास। प्रस्तरोत्कीर्ण कला में रूपों की परंपरा ने अभिव्यक्ति की जो शैली, जो प्रमाण दिए, उनसे रूप के रूपकत्व को समझा जा सकता है। उस युग में रूप की प्रतीति रूपक अनुभव आकार का संकेत करती है। उस युग की संपूर्ण कला को देखें तो पाएंगे कि प्रकृति के रूप, रूप, स्त्रियों के रूप, मानवीय। देवताओं के रूप, यक्षों और बुद्धों के रूप, सभी उस कला में चित्रित आते हैं। मानो सभी शब्दाकार न होकर रूपकार हों। उन्हें शिल्पी कहना शायद किसी भी और युग के कवियों के लिए उतना सार्थक न होगा जितना इस युग के कवियों के लिए। उनकी प्रतिमा शब्दों में मूर्ति गढ़ती है और शब्द-चित्र भौतिक प्रतिमाओं से अधिक स्पष्ट और उज्ज्वल बनने की होड़ करते हैं। गतिशील-भंगिमा का एक अभिव्यक्ति युग के समाधि गुण से भावना जाता था। भावना की अंकित रेखा का प्रकाश कर देता है, और कवि प्रतिभा की विज्ञापना नहीं आती है। इस अप्रत्यक्षीकरण के साथ

उचित वैभव। ये भाव इन भावनिकायों और रस व्यापार की ओर से विशेष रूप से [illegible] जो इस साहित्य का आश्रयदाता था और समृद्धि, [illegible] पांडित्य एवं विलासिता से [illegible] और [illegible] था। अर्थशास्त्र और कामशास्त्र, तथा नाट्य-शास्त्र और [illegible], इस [illegible] और [illegible] जीवन की झाँकियाँ प्रस्तुत करते हैं।

रूपक में रूप यानी दृश्य की स्वतंत्र सत्ता और अदृश्य का संकेत, दोनों विद्यमान है। [illegible] हमारे नाट्य, [illegible] और [illegible] अनुलिखित कलाओं में रूप की व्यंजक ऐंद्रियता और अलौकिकता के सामंजस्य का आदर्श स्थान लिया है। सारनाथ के बुद्ध, अजंता के पद्मपाणि या कालिदास के नाट्य में यही सामंजस्य उत्कृष्ट कोटि में है। [illegible] यही सामंजस्य रूप [illegible] है।

नाटक को रूपक और [illegible] को [illegible] इसीलिए कहा जाता है, कि वह उस 'भाव' का 'रंग' में प्रस्तुत किया जाता है, जो 'देखा' (दृश्य और श्रव्य) जाता है। दृश्यत्व और वाचना का आधार वृत्तियाँ हैं, जैसे संगीत में स्वर का आधार श्रुतियाँ हैं। उन्हीं वृत्तियों के ही अनुपात [illegible] से, अर्थात् रूपकत्व के इसी आधार पर नाटकत्व निश्चित और [illegible] होता है। जिसमें [illegible] अधिक [illegible] है, वह [illegible] है जिसमें [illegible] कम [illegible] वह प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथि, [illegible] और ईहामृग हैं।

नाटक की सम्पूर्णता नाटक और प्रकरण में ही पाई है, शेष आठ रूपक प्रकारों में क्यों नहीं, इस प्रश्न के समाधान और नाटकत्व का रहस्य [illegible] छिपा हुआ है। जिसमें रूपकत्व का 'संपूर्ण वृत्तिचतुष्टय' निहित है, स्वभावतः वही है नाटक। [illegible] नाटक 'प्रथम' है।[1]

अभिनवगुप्त ने नाटक का [illegible] के सहारे समझाया है। [illegible] 'जाति' [illegible] को 'प्राण' कहते हैं। [illegible] 'जाति' [illegible] विशिष्ट [illegible] नहीं करता, बल्कि विविध जातियों के सामंजस्य से [illegible] का सृजन करता है। इसी तरह नाटक के [illegible] (फल) [illegible] है, [illegible] और [illegible] से परिपूर्ण है, तभी [illegible] कार्य (प्रकरण) [illegible] है। [illegible] (नाटक) है। [illegible] है, [illegible] है, [illegible] और [illegible] है। [illegible] संपूर्ण है। आत्मज्ञान और [illegible] है। [illegible] जिसका [illegible] क्रमशः वही भाण, प्रहसन, डिम, [illegible] आदि [illegible] है।

उदाहरण के लिए नाटक का [illegible] 'ईहामृग' कर्म-अभाव है। [illegible]

उदाहरण [illegible] नहीं वह [illegible] (श्रम) [illegible] की अपेक्षा [illegible] है।

[illegible] है, जिसका [illegible] का साम्य संभव ही नहीं है।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

यह मानकर [illegible] वस्तुतः, [illegible] है। वस्तु, नेता, [illegible] है कि नाटक का [illegible] गया।

[illegible] हालांकि [illegible] [illegible] हैं, [illegible] नाटकत्व का [illegible] है।

उदाहरण के लिए [illegible] के लिए [illegible] है, ऐसी [illegible] कथा [illegible] प्रसिद्ध हो कि [illegible] है। [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] नहीं हुई।

[illegible] है कि वह [illegible] [illegible] हुआ है [illegible] इसका [illegible] [illegible] अपना कामों [illegible] है।

[illegible] के लिए [illegible] [illegible] साम्य है।

केवल 'डिम' रूपक प्रकार में देवता का प्रयोग नायक के लिए किए जाने का प्रावधान उल्लिखित है कि 'डिम' है ही कल्पना का रूपक। इसमें कैशिकी वृत्ति के अतिरिक्त, सात्वती, आरभटी व भारती वृत्तियों का समावेश होता है। इसमें देवता, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, नाग आदि मानवेतर जाति के नायक हो सकते हैं अथवा भूत, प्रेत, पिशाच आदि पात्रों का भी समावेश होता है। इनकी पात्र संख्या में सोलह होती है तथा ये बड़े उद्धत होते हैं। इसमें शृंगार व हास्य के अतिरिक्त बाकी छः रसों का प्रयोग किया जाता है। इसका अंगी रस रौद्र होता है तथा इसमें माया, इंद्रजाल, युद्ध, क्रोध, उद्भ्रांति आदि चेष्टाओं तथा चंद्रग्रहण एवं सूर्यग्रहण का दृश्य दिखाया जाता है। इसमें केवल चार अंक होते हैं, तथा विमर्श संधि के अतिरिक्त बाकी चार संधियां पायी जाती हैं।

पर नाटकत्व की प्रतिष्ठा के लिए केवल मानव जीवन की ही कोई सुसाध्य लक्ष्य प्राप्ति, नायक का आदर्श है।

नाटक का मूलाधार रूपकत्व है।

नाटकत्व ही सभी रूपक प्रकारों की मूल प्रकृति है।

रूपक वह है, जिसके शब्द, जिसके कार्य, जिसकी घटनाएं 'रूप' हैं, और रूप स्पष्ट हैं। रूप सर्वप्रथम दर्शक को आवेश में निरंजन लगा देता है। इस रूपकत्व से जो अर्थ निकलता है, उसमें निहितार्थ यह संकेत है कि विलासमयित, व्यक्तिगत जीवन और प्रेम न ही दुख का कारण नहीं है, वह राष्ट्रीय जीवन में भी पतन का कारण है। अभिज्ञान शाकुंतलम्, विक्रमोर्वशीयम् और कुमारसंभवम् में भी कालिदास की यही दृष्टि रही है कि तपस्या के द्वारा विशुद्ध हुए बिना व्यक्ति वस्तुतः आत्मशक्ति, व्यापक, सक्षम शक्ति नहीं बन सकती, न व स्वस्थ राष्ट्र को या शुद्ध संस्कृति को जन्म दे सकते हैं।

अपने नाटकों में जो इतना रूपकत्व पर बल है, रस के अभिनय में भी इस प्रकार 'अलंकरणों' का इतना महत्त्व है, उसके पीछे अवश्य ही रूपकत्व का ही संकेत है। सारा भारतीय चिंतन इसी एक ओर इशारा करता है कि अपने आप से बाहर निकलो। व्यावहारिक रूप से अपने आप से बाहर कैसे निकला जा सकता है? एक ही उपाय है आत्मविश्वास। उदाहरण के लिए बीज मिट्टी से बाहर कैसे निकलता है। जाहिर है पौधों के रूप में विकास करके।

विकास के साथ गति का गहरा योग है। अपने आप से बाहर निकलना प्रवेश, प्रस्थान अर्थात् आत्मविश्वास करना, इस रूप अभिनय रहता। इन दोनों

क्रियाओं की एकात्म स्थिति का नाम है, रूप में परिणत हो जाना। रूप मायने जो दृश्य है, रूप मायने जो अदृश्य है। रूप मायने जो हर क्षण विकसित और गतिमान है।

अपने रूपकत्व में नाटक, संवाद व्यापार के साथ मौन का अत्यधिक महत्त्व है। पूरा रूप तभी प्रकट होगा, जब भाषा का व्यापार कम होगा। ऐसा हमारे पुरखों ने तरह-तरह से कहा है। भाषा का, शब्द का पहला काम है चंचलता उत्पन्न करना। जब मौन टूटता है तभी चंचलता अर्थात् शब्द पैदा होते हैं। बोलने से पहले चंचलता और बोलने के बाद चंचलता। बोलने का अर्थ है पहले आगे आपको, जगत को देखो, फिर बोलो। इस रहस्य से भारतीय अभिनेता पूरी तरह परिचित था। वाचिक अभिनय में पूर्व का अभिनय और बाद का अभिनय उसी चंचलता को स्पर्श देने का सार्थक प्रयत्न है।

मौन का एक और भी तर्क है अनिर्वचनीयता। मतलब है कि रूप को, दृश्य को, देखो, उसको अनिर्वचनीयता में उतरो, बोलो नहीं। मौन रहना अर्थात् मूक अभिनय का सत्य और सौंदर्य की सुरक्षा का मार्ग और प्रबल साधन है। रूप का वास्तविक रूप अर्थात् स्वरूप मौन है। मौन ही रूप है। [illegible]रामचरित की सांची, सारनाथ के बुद्ध, अजंता के पद्मपाणि उसी रूपकत्व के अनिर्वचनीय रूप हैं। रूपक के तत्त्व मौन हैं, वाचाल नहीं।

ऐसे मौन और ऐसे रूप को देखना बिना ज्ञान के संभव नहीं है। देखना मायने जानना। जानना मायने देखना। देखना मायने जानना, देखना और जानना दोनों समानार्थक हैं। बिना जाने हम देख नहीं सकते, बिना देखे हम जान नहीं सकते। नाटक 'देखने' से रूपक बना और 'जानना' यह है कि बिना जाने हम 'रूप' से 'रूपांतरित' नहीं हो सकते। रूप से रूपांतरित होना, अपने आप से बाहर निकलना, यही है रूपांतरित होना। देखने और जानने के अलावा हमारे पास कोई दूसरा उपाय नहीं है कि हम बदल जाएँ, रूपांतरित हो जाएँ।

मनुष्य के शरीर में दर्शन, स्पर्शन, [illegible], श्रवण, आदि की अनंत शक्तियाँ हैं जो अपने नाना कर्मों के रूप में वहाँ व्यक्त होती हैं, जिसे करने वाला और समेटने वाला मनुष्य वही होता है, जिसके भीतर वे गतिमान हैं। ऐसे मनुष्य को पुरुष कहा गया है।

दर्शन, स्पर्शन, स्वसन और श्रवण को रूपाकार कर रंगभूमि पर प्रतिष्ठित करना नाट्यकर्म की बुनियाद है, जिसमें मनुष्य व्यक्ति से समाज, समाज से दर्शक, दर्शक से पुरुष, पुरुष से प्रेक्षक, प्रेक्षक से सुमनस और अंततः वियोग से संयोग की ओर उन्मुख होता है।

[illegible] [illegible] [illegible] [

गतांग कालों, विदेशी [illegible] व्यक्तियों की ओर दौड़ने लगते हैं। [illegible] भी [illegible] चाहता है, परन्तु [illegible] है।

इस स्थिति [illegible] होती है।

आत्मनिरीक्षण एक असाधारण [illegible] आती है, जिसमें 'मैं' या 'मन' [illegible] 'प्रेक्षक' हो जाता है। [illegible] है।

केवल नवीन होगा, [illegible] प्राचीन नहीं। यदि ध्यान [illegible] परिवर्तन प्राचीन का केवल [illegible] होगा। उसमें कुछ भी [illegible] होगा, कुछ भी मौलिक न होगा।

आमूल [illegible] संभव हो सकता है, जब मन स्वयं ही [illegible] नवीन हो जाता है, तब वह अपनी समस्त क्रियाओं को [illegible] नहीं, वरन [illegible] में सक्षम हो। जब मन स्वयं अपनी क्रियाएं देखता है, अपनी आकांक्षाओं, भावों, प्रेरणाओं, धारणाओं, [illegible] के प्रति सजग होता है। तब वह जानता है कि वह प्राचीन-नवीन, [illegible] व्यक्तियों एवं अन्य वस्तुओं का मर्म क्या है। तब वह [illegible] को देखता है, जिसकी [illegible] का कारण भूत और वर्तमान के बीच द्वन्द्व है।

संदर्भ

1. [illegible]
2. [illegible] 73 श्लोक
3. [illegible] प्रश्न 2, पृष्ठ 41। [illegible]
4. वही।

नाटक : नाट्यकृति

अपने नाट्यशास्त्रों में 'नाटक' की चर्चा इस तरह बिल्कुल नहीं है, जैसी चर्चा हम आज समझते हैं या स्वतन्त्र रूप से करना चाहते हैं।

आज 'नाटक' या नाटककार कहने से जो एक चित्र हमारी आँखों के सामने उभरता है, वह शास्त्रिक दृष्टि से न नाटक का चित्र है, न नाटककार का। क्योंकि रंग-कला में बुनियादी चीज पहले-पहल उभर आयी है वह है नर्तन; नर्तन से अभिप्राय है — गायन और नर्तन। इसके पीछे जो कारण रहा है, वह कोई लौकिक दैवी, धार्मिक या किसी प्रकार का कोई उत्सवधर्मी अनुष्ठान है।

जैसा हमने देखा, नाट्यकला का आधार है देखना, सुनना अर्थात् अनुभव करना है। देखने के लिए प्रारम्भ में, जैसा कि हम सदा जीवन और जगत में देखते हैं, रंग और मुद्राएं होती हैं। इस तरह रंग-कला की बुनियाद में नर्तन और नर्तक है। नर्तन में रंग और मुद्रा दोनों का सहज संयोग है। इसी नर्तन और नर्तक से नाटक तथा नाटककार का उदय हुआ। इसी ने आगे चलकर कथा और संगीत के सहारे जीवन का कोई दृश्य, अथवा कोई भाव दर्शक समाज के सामने प्रस्तुत किया।

प्राणिमात्र की तरह ही किसी भी कला की उत्पत्ति अव्यक्त से ही व्यक्त धरातल पर होती है। इस उत्पत्ति में जो मध्यस्थ है अथवा जो माध्यम है, हम केवल उसी को देख पाते हैं। नाटक की उत्पत्ति के विषय में भरत के नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में एक प्राचीन मत उपलब्ध होता है। इस अध्याय का नाम ही है 'नाट्योत्पत्ति'। इसमें एक कथा है। प्राचीन काल में कृतयुग में स्वायंभुव मन्वंतर की समाप्ति के पश्चात् त्रेतायुग में वैवस्वत मन्वंतर का आरंभ हो जाने पर जब संसार में सुख के साथ दुःख भी प्रविष्ट हो गया तब महेंद्र के साथ देवताओं ने ब्रह्मा के पास जाकर निवेदन किया कि हमको कोई ऐसा क्रीड़ात्मक चाहिए जो देखे और सुने जाने योग्य हो। यह जो वेद व्यवहार है सो यह तो सामान्य जन द्वारा सुना नहीं जा सकता, अतएव आप एक अपर वेद की रचना कीजिए जो सब वर्णों के काम का हो। ब्रह्मा जी ने देवताओं की प्रार्थना स्वीकार करके योगास्थित होकर

चारों वेदों का स्मरण किया और यह संकल्प किया कि मैं ऐसे पांचवें वेद की रचना करता हूं जो धर्मानुकूल, यशस्य और उपदेश सहित होगा। भावी जगत के लिए सब कर्मों का पथप्रदर्शक, सब शास्त्रों शिल्पकलाओं के अर्थ से संपन्न होगा।

यह नाट्यवेद चारों वेदों के अंशों से निर्मित हुआ। इसके लिए ब्रह्मा ने पाठ्य भाग को ऋग्वेद से, गीतों को सामवेद से, अभिनयों को यजुर्वेद से और रसों को अथर्ववेद से ग्रहण किया।

इस प्रकार पंचम वेद की सृष्टि करके ब्रह्मा ने इंद्र से कहा कि मैंने इतिहास की रचना कर दी है। जो देवता, चतुर और परिश्रमी हों उनके द्वारा इसका अभिनय किया जाना चाहिए। इंद्र ने कहा कि देवता नाट्य-कर्म में अक्षम हैं। तब ब्रह्मा ने भरतमुनि को उनके सौ पुत्रों सहित इस कार्य के लिए नियुक्त किया। भरतमुनि ने प्रथमतः भारती, सात्वती और आरभटी वृत्तियों से युक्त अभिनय की तैयारी की। पर जब ब्रह्मा ने कैशिकी वृत्ति की योजना की आवश्यकता बताई तो भरतमुनि ने अप्सराओं की मांग की। ब्रह्मा ने कैशिकी वृत्ति के लिए उपयुक्त अप्सराएं भरतमुनि को प्रदान कीं। गायन कार्य के लिए नारदादि गंधर्वों की योजना की गयी। इनकी तैयारी के पश्चात इंद्रध्वज के उत्सव के समय 'सुरविजय' नाटक का अभिनय किया गया। देवताओं ने अभिनय से प्रसन्न होकर भरतमुनि और उनके पुत्रों को अनेक उपहार प्रदान किये। चूंकि इस नाटक में दानवों की पराजय प्रदर्शित की गयी थी, अतएव उन्होंने अपनी अप्रसन्नता प्रकट की और अभिनय में विघ्न उपस्थित करने प्रारंभ कर दिये। इस पर इंद्र ने क्रुद्ध होकर ध्वज को उठाकर उसकी मार से असुरों के शरीरों को जर्जर कर दिया। इस प्रकार ध्वज से ही जर्जर की उत्पत्ति हुई। पर विघ्न फिर भी बने ही रहे। तब ब्रह्मा ने विश्वकर्मा को नाट्यगृह बनाने का आदेश दिया। विश्वकर्मा ने नाट्यगृह की रचना की और उसमें नाटक की रक्षा करने के लिए सब देवता यथास्थान नियुक्त कर दिये गये

तो हमारी प्राचीन परंपरा अनुसार नाटक की उत्पत्ति ब्रह्मा से हुई। उन्होंने पहले इतिहास की सृष्टि की। शिव और पार्वती ने इसमें तांडव और लास्य की योजना की और विष्णु भगवान ने चारों वृत्तियां प्रदान कीं।

और ब्रह्मा जी के द्वारा स्वाति मुनि को अपने शिष्यों सहित वाद्य यंत्रों (अवनद्ध वाद्यों) के बजाने में और नारद मुनि और गंधर्व आदि को गाने के लिए नियुक्त किया गया। इस प्रकार (कैशिकी वृत्ति तथा वाद्य गीत आदि संपूर्ण साधनों के मिल जाने पर) नाट्य को भरत ने पूर्ण रूप से अपने सौ पुत्रों के साथ वेद और वेदांगों के ज्ञाता समस्त सृष्टि के स्वामी पितामह के सम्मुख स्वाति

और नारद के साथ भरतमुनि प्रणाम करते हुए उपस्थित हुए। फिर उन्होंने निवेदन किया—भगवन्! नाट्य का ग्रहण (शिक्षण आदि कार्य) पूर्ण हो चुका है अब आप आज्ञा दीजिए कि आगे क्या किया जाये?[1]

यह सुन पितामह ब्रह्माजी बोले—इस समय अभिनय के लिए फिर से बहुत अच्छा अवसर आ गया है। महेन्द्र का इस समय ध्वज-महोत्सव चल रहा है। अतएव इसी महोत्सव में इस नाट्यवेद का भी प्रयोग किया जाये।

तब उस ध्वज महोत्सव में—जो कि असुरों और दानवों पर विजय-प्राप्ति के उपलक्ष्य में मनाया जाता था तथा जिसमें आनंदित देवगण इधर-उधर विचर रहे थे, ऐसे अवसर पर नाट्य प्रयोग प्रस्तुत करते हुए सर्वप्रथम मैंने आशीर्वादात्मक वचनों से युक्त नान्दी का पाठ किया। इस नान्दी के पश्चात् देवताओं द्वारा दैत्यों पर विजय प्राप्त करने का ऐसा अभिनय प्रस्तुत करना प्रारम्भ किया जो क्रोधपूर्ण वचनों, भगदड़ आदि कार्यों तथा मारकाट और युद्धार्थ किये गये आह्वानों से युक्त था। इस प्रदर्शन को देखकर ब्रह्माजी तथा देवगण संतुष्ट हो गये और तब प्रसन्नमना उन ब्रह्मादि देवों ने सभी प्रकार के उपकरण नाट्य-उपयोग में आने वाली वस्तुएं प्रदान किये।[2]

इसमें जो पहला (नाटक नहीं) नाट्य प्रकार खेला गया वह रूपक का सातवां प्रकार था, 'समवकार'। उसका नाम था, 'समुद्र मंथन'। इसके बाद जो दूसरा नाट्य प्रकार खेला गया, वह रूपक का पांचवां प्रकार था, 'डिम' उसका नाम था 'त्रिपुरदाह' जिसके नेता थे—शिव स्वयं।

इस संक्षिप्त भूमिका के बाद हम मुख्य बात पर आते हैं कि हमारे नाट्य शास्त्र में अलग से नाटक पर चर्चा क्यों नहीं है? अगर चर्चा है तो केवल नाटक के तीन तत्त्वों की है। इसका एक कारण यह है कि अपने यहां तात्त्विक दृष्टि से नाट्य से अलग नाटक का स्वतंत्र महत्त्व नहीं है। इसके भी पीछे वही भारतीय भाव है कि हमारे यहां निरपेक्ष सौंदर्य दृष्टि का कोई स्थान नहीं है। कला चाहे वह नाट्य कला हो या संगीत कला हो, अर्थात वह किसी भी प्रकार की कलाकृति है, वह यानि, जीवन से अलग नहीं है। स्वभावतः जैसा अपना जीवन दर्शन है, वैसा ही हमारा कला दर्शन है।

नाट्य में उस समय से नाटक अपना स्वतंत्र महत्त्व प्राप्त करने लगा जिस समय से हमारे सांस्कृतिक जीवन में कला और जीवन में अलगाव शुरू हुआ। यह सर्व-विदित है कि कला और जीवन जब अलग-अलग हो जाते हैं, तभी इस प्रकार की विडम्बनापूर्ण स्थिति पैदा होती है कि कला के विभिन्न पक्ष अपने आपको स्वतंत्र मानने लगते हैं। लेकिन जब तक कला और जीवन एक रहते हैं तब तक यह द्वैत भाव नहीं होता। ऐतिहासिक दृष्टि से यह पश्चिम में बहुत ही जल्दी हुआ, तभी कला वहां जीवन से अलग हो गयी।

हमारे यहां पश्चिम के संपर्क से पूर्व, शिल्प और कला, नाटक और नाट्य, नृत्य और नर्तन, परार्थ और स्वार्थ, इन सबमें अलग-अलग खंड दिखते ही नहीं। यहां अपने लिए अपनी कला उसी प्रकार से आत्माभिव्यक्ति का अंग है जैसे आत्मा के लिए शरीर। अतः यहां की कला जीवनगत धर्म की तरह जानी है। यहां अपनी आत्मा के लिए अपने जीवन की आहुति दी जाती है। अर्थात् कला और जीवन का जो द्वंद्व है, वह कहीं बाहर नहीं है, भीतर है, कहीं बाहर प्रतिस्पर्धा नहीं है, बल्कि भीतर ही है। इसीलिए स्वाधीनता की अवधारणा इसमें नहीं है कि नाटक को 'नाट्य' से स्वतंत्र होने की भावना करे। हमारे यहां स्वतंत्रता या स्वाधीनता, आत्मनियंत्रण और अनुशासनीकरण में है। अर्थात् अपने 'स्व' को 'पर' में मिलाकर चलना ही स्वाधीनता है। इसीलिए नाटक को नाट्य से अलग करके नहीं देखा जा सकता है।

पश्चिम का कलाकार व्यक्तिवादी होने के कारण कला के अन्य पक्षों में अलग-अलग स्तरों पर बहुत जल्दी विभक्त हुआ। दूसरा कारण यह कि पश्चिम की कला संवेदना, पश्चिम का ज्ञान ऐंद्रिय संवेदन पर बहुत आधारित है। इसके ठीक विपरीत भारतीय कला, भारत का ज्ञान, ऐंद्रिय संवेदन से बहुत आगे जाकर यह अनुभव करता है कि जीवन एक है, अखंड है और इसकी एकता तीन बातों में है, कि समस्त जीवन का स्रोत एक है। दूसरे, समस्त जीवन का अंतिम भाव एक है। और तीसरे, समस्त जीवन का लक्ष्य एक है।"

इन्हीं तीनों बातों को सोचकर मुझे ऐसा लगता है कि नाटक को नाट्य से स्वतंत्र करके नाट्य की जो परिभाषा की गयी है — 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' और इसे जिस तरह से नाट्य रूप से जोड़ा गया है —'रूपं दृश्यतयोच्यते', और इसे अंततः रूपक से मिलाया गया है — 'रूपकं तत्समारोपात्' यहां एक अर्थ में नाटक, नाट्य, रूप तथा रूपक हैं। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर हमारे नाट्य शास्त्र में नाटक के केवल तीन तत्त्व माने गये हैं — कथा-वस्तु, नेता (पात्र) और रस। जैसे कथा, पात्र और रस में विभेद नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार नाटक और नाट्य में विभेद नहीं किया जा सकता।

जिस प्रकार रंग और भूमि में विभेद नहीं किया जा सकता, उसी तरह श्रद्धा और विश्वास में विभेद नहीं किया जा सकता।

ये बातें आज की धर्मनिरपेक्ष मानसिकता में आसानी से समझ में आने वाली नहीं हैं। हमारी सारी कला-दृष्टि वस्तुतः धर्म दृष्टि के अधीन रही है। इसलिए भारतीय जीवन और कला दोनों क्षेत्रों के किसी भी पक्ष को समझने के लिए सबसे पहले अपने धर्म को समझना अनिवार्य है। कला, साहित्य अपने यहां धर्म से अलग कोई चीज नहीं है।

नाट्य, रंग-भूमि और नाट्य कला आदि एक विशेष प्रकार की अवस्था का

धर्म है। अपने सनातन धर्म की सबसे बड़ी क्षमता और विशेषता है — निरंतर कथा (मिथ) का सृजन। कथा कोई कवि कल्पना नहीं है, यह जीवन के प्रथम सत्य का साक्षात् रूप है। उस प्रथम सत्य के समीप जो भाषा हो सकती है, उसके द्वारा उसे व्यक्त करने का प्रयत्न ही कथा है। यही कथा 'समुद्र मंथन' और 'त्रिपुरदाह' की वे कथा प्रस्तुत हैं जो नाट्यशास्त्र के आदि में नाट्य रूप में देवताओं द्वारा देवताओं-दैत्यों के सामने किये गये हैं।

जो कथा रचने की शक्ति है, वही जीवन जीने की परिभाषा है। जीवन की आकांक्षा ही कथा में 'वस्तु' है।

इस प्रकार नाटक, नाट्य से अलग कोई चीज नहीं है। कथा, पात्र से अलग नहीं, पात्र दर्शक और लोक से अलग नहीं। रंगमंच अपने सनातन मंदिर की ताजेदारी है, वहीं साक्षी है जिस पर अपना सारा धर्म (संस्कृति) अवस्थित है। यह सब कुछ नाट्य का पूरा आयोजन, दर्शक समाज के जीवन के मनोमय का पूरा आयोजन, दर्शक समाज के जीवन के मनोमय कोष का भोजन है, अंग है। इसीलिए मूलभाव इसका धार्मिक है। धार्मिक माने मनुष्य अपने पशुत्व से मुक्त हो जाये। अपने निम्न, नीचे स्थूल स्तर से निरंतर ऊंचे उठने के भाव से जुड़ जाये।

भारतीय नाट्य शास्त्र के अनुसार नाटक, जो रूपक का एक प्रकार है, इसके केवल तीन तत्व हैं — कथावस्तु, नेता (नायक, पात्र) और रस। इसके विपरीत 'ड्रामा' के सात तत्व हैं—'प्लाट, कैरेक्टर, डायलाग, टाइम एंड प्लेस, स्टाइल, परपज और फिलॉसफी'।

वस्तुतः तात्त्विक दृष्टि से ही नाटक और ड्रामा में मूलभूत अंतर ही नहीं, विरोध है। नाटक 'अवस्था की अनुकृति' है — अर्थात् इसमें अवस्था की ऐसी प्रस्तुति (प्रदर्शन नहीं) है, जिसमें सारा बल कृतित्व पर है। ड्रामा, अवस्था नहीं, बल्कि प्रकृति को उसके सामने दर्पण रखकर उसमें सन्निहित नैतिकता के चेहरे को दिखाता है और उसकी वास्तविकता का मजाक करता है। यही नाटक का प्रयोजन है, अर्थात् जिस देश-काल को 'प्लाट' लिया गया है, उसके शरीर, उसके आकार और उसके दबाव को दिखाना ही 'ड्रामा' का लक्ष्य है। दबाव का लक्ष्य राजनीतिक है।

अर्थात् हमारे नाटक में अनुकृति है तो पश्चिम के ड्रामा में 'इमीटेशन' अर्थात् अनुकरण है। फलतः उनके ड्रामा में प्रस्तुति के स्थान पर प्रदर्शन का तत्व प्रबल है।

इस पृष्ठभूमि में पश्चिम के लोगों ने जैसे विलियम जोन्स, मैक्डानल, मैक्समूलर, कीथ, आदि अनेक विद्वानों ने स्वभावतः ड्रामा की ही दृष्टि से हमारे नाटक को देखा। फलतः हमारे नाट्य और नाटक दोनों की आत्मा को समझ नहीं

गये। उनकी ड्रामा वाली दृष्टि में हमारे यहाँ के केवल दो ही नाटक — 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' और 'मृच्छकटिकम्' ही उनकी समझ में आ सके। इसलिए इन्हीं दो नाटकों के योजनापूर्ण ढंग से अनुवाद किये और ड्रामा की ही दृष्टि से इनकी व्याख्याएं प्रस्तुत कीं। यह दुर्घटना इसलिए हुई कि इन दोनों नाटकों में ड्रामा की तरह एक नायक है, एक नायिका है। एक कथावस्तु है और एक रस है। एक ऐसा केंद्रीय लक्ष्य है जो पश्चिमी बुद्धि के करीब है।

मेरा विश्वास है कि 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' और 'मृच्छकटिकम्', ये दोनों नाटक भरत की नाट्य परंपरा के प्रतिनिधि नाटक नहीं हैं। प्रतिनिधि नाट्य हैं —'समवकार' और 'डिम'। समवकार रूपक का प्रतिनिधि नाटक है 'समुद्रमंथन' और डिम का प्रतिनिधि नाटक है —'त्रिपुरदाह'। इन्हीं दोनों नाटकों की चर्चा नाट्य शास्त्र और दशरूपक में भी मौजूद है। अतः इन दो नाट्य प्रकारों के बारे में तफसील से हमें जान लेना चाहिए। डिम का अर्थ है 'संघात अभिघात' करना। डिम शब्द की व्युत्पत्ति 'डिम संघाते' इस धातु से है। अतः डिम का तात्पर्य वह रूपक है जहाँ नायकों का संघात व्यापार हो। इसका कथानक इतिहासप्रसिद्ध होता है, कैशिकी से इतर तीन वृत्तियां पायी जाती हैं, तथा वीर, रौद्र, बीभत्स, अद्भुत, करुण, भयानक —ये छह रस पाये जाते हैं। इनमें प्रधान स्थायी रस रौद्र ही होना चाहिए। विमर्श संधि इसमें नहीं होती। मुख, प्रतिमुख, गर्भ तथा निर्वहण ये चार संधियां अंगों सहित पायी जाती हैं। इसमें माया, इंद्रजाल आदि अनुभावों का आश्रय लिया जाता है। बाकी प्रस्तावना आदि नाटक की ही तरह होता है। यही बात महर्षि भरत ने स्वयं त्रिपुरदाह की कथावस्तु की तुलना के बारे में बतायी है :

"मैंने त्रिपुरदाह में इसी लक्षण को बताया है। इसलिए त्रिपुरदाह डिम संज्ञक है।"[5]

'समवकार' में भी नाटक की तरह आमुख (पूर्वरंग) की योजना है। इसकी कथावस्तु देवताओं और दैत्यों से संबद्ध प्रसिद्ध वस्तु होती है। इसमें विमर्श संधि नहीं होती। कैशिकी से भिन्न वृत्तियां पायी जाती हैं, तथा इसके नेता (नायक) देवता व दानव होते हैं। ये नायक इतिहासप्रसिद्ध होते हैं तथा संख्या में बारह होते हैं। इन नायकों का फल भिन्न-भिन्न होता है। ये सभी नायक धीर व महान पूर्ण होते हैं, जैसे समुद्रमंथन में पाये जाते हैं। इस प्रकार इसका रस वीर होता है। इसमें तीन अंक होते हैं जिनमें तीन बार कपट, तीन प्रकार का धर्म, अर्थ व काम का शृंगार तथा तीन बार पात्रों में भगदड़ व विद्रव का संयोजन किया जाना चाहिए। इसके पहले अंक में मुख व प्रतिमुख ये दो संधियां होनी चाहिए, तथा इसकी कथा चौबीस घड़ी (बारह नालिका) की होनी चाहिए। नालिका का मतलब दो घड़ी से है। इसमें जिन तीन कपटों की योजना होती है वे वस्तु, स्वभाव तथा शत्रुओं के

जाते। उनकी प्रांजल शैली दृष्टि में हमारे यहाँ के केवल दो ही नाटक — 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' और 'मृच्छकटिकम्' ही उनकी समझ में आ सके। इसलिए इन्हीं दो नाटकों के योजनापूर्ण ढंग से अनुवाद किये और ड्रामा की ही दृष्टि से इनकी व्याख्याएं प्रस्तुत कीं। यह दुर्घटना इसलिए हुई कि इन दोनों नाटकों में ड्रामा की तरह एक नायक है, एक नायिका है। एक कथावस्तु है और एक रस है। एक ऐसा केंद्रीय लक्ष्य है जो पाश्चात्य बुद्धि के करीब है।

मेरा विश्वास है कि 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' और 'मृच्छकटिकम्', ये दोनों नाटक भारतीय नाट्य परंपरा के प्रतिनिधि नाटक नहीं हैं। प्रतिनिधि नाट्य हैं —'समवकार' और 'डिम'। समवकार रूपक का प्रतिनिधि नाटक है 'समुद्रमंथन' और डिम का प्रतिनिधि नाटक है —'त्रिपुरदाह'। इन्हीं दोनों नाटकों की चर्चा नाट्यशास्त्र और दशरूपक में भी मौजूद है। अतः इन दो नाट्य प्रकारों के बारे में संक्षेप में हमें जान लेना चाहिए। डिम का अर्थ है 'संघात अभिघात' करना। डिम शब्द की व्युत्पत्ति 'डिम संघाते' इस धातु से है। अतः डिम का तात्पर्य यह रूपक है जहाँ नायक का संघात व्यापार हो। इसका इतिवृत्त इतिहासप्रसिद्ध होता है, कैशिकी से इतर तीन वृत्तियां पायी जाती हैं, तथा वीर, रौद्र, बीभत्स, अद्भुत, करुण, भयानक — ये छह रस पाये जाते हैं। इसमें प्रधान स्थायी रस रौद्र ही होना चाहिए। विमर्श संधि इसमें नहीं होती। मुख, प्रतिमुख, गर्भ तथा निर्वहण ये चार संधियां अंगों सहित पायी जाती हैं। इसमें माया, इंद्रजाल आदि अनुभावों का आश्रय लिया जाता है। बाकी प्रस्तावना आदि नाटक की ही तरह होती है। यही बात महर्षि भरत ने स्वयं त्रिपुरदाह की कथावस्तु की तुलना के बारे में कही है :

"मैंने त्रिपुरदाह में इसी लक्षण को बताया है। इसलिए त्रिपुरदाह डिम संज्ञक है।"

'समवकार' में भी नाटक की तरह आमुख (पूर्वरंग) की योजना है। इसकी कथा देवताओं और दैत्यों से संबद्ध प्रसिद्ध वस्तु होती है। इसमें विमर्श संधि नहीं होती। कैशिकी से भिन्न वृत्तियां पायी जाती हैं, तथा इसके नेता (नायक) देव-दानव होते हैं। ये नायक इतिहासप्रसिद्ध होते हैं तथा संख्या में बारह होते हैं। इन सबका फल भिन्न-भिन्न होता है। ये सभी नायक धीरोदात्त गुण से पूर्ण होते हैं, जैसे समुद्रमंथन में पाये जाते हैं। इस प्रकार इसका रस वीर होता है। इसमें तीन अंक होते हैं जिनमें तीन बार कपट, तीन प्रकार का धर्म, अर्थ व काम का शृंगार तथा तीन बार पात्रों में भगदड़ व विद्रव का समायोजन किया जाना चाहिए। इसके पहले अंक में मुख व प्रतिमुख ये दो संधियां होनी चाहिए, तथा इसकी कथा चौबीस घड़ी (बारह नालिका) की होनी चाहिए। नालिका से मतलब दो घड़ी से है। इसमें जिन तीन कपटों की योजना होती है वे वस्तु, स्वभाव तथा शत्रुओं के

द्वारा निर्मित होते हैं। इसमें नगरोपरोध, युद्ध, वात, अग्नि आदि उत्पातों के कारण विद्रव का दृश्य होता है। इसमें धर्म, अर्थ, तथा काम तीनों तरह का शृंगार पाया जाता है। बिंदु नामक अर्थप्रकृति, प्रवेशक नामक अर्थोपक्षेपक नहीं पाया जाता। [illegible] की तरह इसमें यथावश्यक वीथ्यंगों की योजना की जानी चाहिए।

इसके काव्य के प्रयोजन निर्धारित किये गये हैं। (समवकीर्यन्तेऽस्मिन्नर्था इति समवकार।) इसमें नाटक की तरह ही आमुख होता है। कारिका का 'आदि' पद बताता है कि सारे रूपकों में आमुख अवश्य होना चाहिए। विमर्श वर्जित चार सन्धियाँ होती हैं, तथा देव-दैत्य आदि बारह नायक पात्र होते हैं। इन पात्रों के फल भिन्न-भिन्न होते हैं। जैसे समुद्रमथन में विष्णु आदि देवताओं को क्रमशः लक्ष्मी आदि की फल-प्राप्ति होती है। इसमें वीर अंगी रस होता है, बाकी रस अंग होते हैं तथा तीन अंक होते हैं। इनमें से प्रथम अंक का इतिवृत्त बारह नालिका का होता है। बाकी दो अंक क्रमशः चार नालिका व दो नालिका के इतिवृत्त से युक्त होते हैं। हर अंक में तीन कपट तथा नगरोपरोध, युद्ध, वात, अग्नि आदि से जनित विद्रवों में से एक-एक विद्रव दृश्य होना चाहिए। धर्म, अर्थ तथा काम इन तीन तरह के शृंगारों में से हर अंक में एक-एक शृंगार की योजना होनी चाहिए। वीथ्यंगों का प्रयोग आवश्यकतानुसार किया जाना चाहिए। नाटक के आदि में बिंदु व प्रवेशक का वर्णन किया गया है, पर यहां इनकी योजना नहीं की जानी चाहिए। यही समवकार का लक्षण है।

ध्यान देने की बात यह है कि 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' को संस्कृत का प्रतिनिधि नाटक मानने के बाद पश्चिम ने सन् 1789 में, जब से विलियम जोन्स ने 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया, तब से लेकर आज तक कुछ इस ढंग से संस्कृत नाट्य और रंगभूमि के बारे में वही छवि बनाकर तैयार की गयी है कि वह पुरानी शैली का है, यह खेलने के योग्य कम, पठन-पाठन के योग्य ज्यादा है। पश्चिम के हिसाब से खेलने के लिए तो ग्रीक नाटक आदि की प्रस्तुति करण नहीं, अवरोध के तत्वों से भरपूर हो, क्रिया प्रधान हो, घटना प्रधान हो। इसके लिए हमारे नाटक के स्थान पर विशिष्ट 'ड्रामा' को स्थापित किया। हमारे नाट्य का प्रतिनिधित्व तो 'समवकार', 'डिम' आदि में है, जो क्रिया प्रधान और घात-प्रतिघात पूर्ण है, जो नाना प्रकार के अवरोध, युद्ध, संघर्ष, वात, अग्नि दृश्यों से भरपूर है। इस पर पर्दा डाल दिया।

जिस नाट्य प्रकार में एक नहीं बारह नायक हों, ऐसे नाटक अंग्रेजी राज की एक सत्तावादी शक्ति के खिलाफ चुनौती बन सकते थे।

उनका क्लासिक ग्रीक थियेटर गुलाम प्रजा के ऊपर निरंकुश बर्बर राजसत्ता और तानाशाही की पृष्ठभूमि में अनुमान उपजा हुआ 'ड्रामा' था। इसी तरह उनका रोमन थियेटर, यहाँ तक कि उनका एलिजाबेथन थियेटर भी उनकी उसी अधिनायकवादी तानाशाही राजसत्ता की प्रेरणा और प्रभाव में विकसित हुआ था। वही निरंकुश तानाशाह बादशाहों का जीवन, राजमहलों में चलने वाली षड्यंत्र, राजसत्ता हथियाने के लिए घात-प्रतिघात (प्लाट), राजमहलों के वही चरित्रगण, यही सब तो आधार था उनके क्लासिक थियेटर और ड्रामा का। उसमें प्रजा, जन, लोग कहाँ हैं? अगर हैं तो केवल गुलाम, नौकर और दास के ही रूप में, इंसान की हैसियत में नहीं। इसका बुनियादी कारण यह है कि उनकी राज व्यवस्था तथा परंपरा में प्रजापालन, जनकल्याण, प्रजा सुख (वेलफेयर स्टेट) और भारतीय 'राजा' की अवधारणा में जमीन-आसमान का फर्क है। 'किंग' का अर्थ है राज्य करने वाला। किंतु राजा का अर्थ है जो सुंदर हो, जो अपनी प्रजा के सुख-कल्याण का ध्यान रखे। राजा राज से बना है। राज् दीप्तौ यानी शोभित मतलब, चमकना, जगमगाना, सुंदर होना। राजा का केंद्र प्रजा है। किंग का केंद्र उसकी राजसत्ता है, जो गुलामों, दासों को अपनी हुकूमत के अधीन किये हुए है। तभी उनके ग्रीक, रोमन एलिजाबेथन थियेटर और ड्रामा की बुनियाद में रक्तपात, अत्याचार, आत्मघात, राजघात और विश्वासघात भरा पड़ा है।

अपने यहाँ जन कल्याण, प्रजा पालन, राजा का मुख्य कर्तव्य था। राजा जनमत के अधीन था। राजा रामचंद्र ने जनमत के प्रतिनिधि एक धोबी के कहने पर अपनी रानी सीता को वनवास दिया। कलिंग युद्ध में प्रजा के दुख से प्रभावित हो राजा अशोक ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया। राजा जनक, राजा युधिष्ठिर, से लेकर चंद्रगुप्त, विक्रमादित्य, इसी परंपरा के राजपुरुष थे। राजा के ही चरित्रगत आदर्शों पर हमारे नाटक के नायक की अवधारणा है जिसमें चरित्र की कसौटी धैर्य है। उस नायक की क्षमता के कारण ही उसे 'नेता' की संज्ञा मिली है।

पश्चिमी मानस स्वभावतः हमारे 'नायक' को नहीं समझ सकता। जैसे हम उनके 'हीरो' को नहीं समझ सकते।

स्थिति के अनुसार इस परस्पर विरोध की पूरी हानि केवल भारतवर्ष को हुई है, विशेषकर तथाकथित आधुनिक भारत को। जिसके मानस में पश्चिमी अंधविश्वास ने यह बात बैठाने की पूरी कोशिश की है कि अपनी नाट्य परंपरा की बातें अवैज्ञानिक, बासी, प्राचीन काल की हैं। इसी के परिणामस्वरूप भारत के आधुनिक हिंदी नाट्य लेखन और नाटककार को अपने समाज से, दर्शकों से, अपनी परंपरा से, अपनी संस्कृति से विच्छिन्नता के उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है। इसीलिए आधुनिक नाटककारों के नाटक न केवल साधारण लोगों की समझ में नहीं आते, बल्कि शिक्षित समाज भी आधुनिक अर्थात् पाश्चात्य नाटककारों के नकलची नाटक-

कारों की कृतियों को नहीं समझ पाते। ऐसा लगता है कि आधुनिक नाटककार अपने देश, समाज, लोक से अलग-थलग रहने वाला और पृथक पड़ा हुआ अजीबो-गरीब व्यक्ति है। वह अर्जित नाटक लिखने या [illegible] बनाने में अपनी इच्छा के पाश्चात्य कलाकारों, नाटककारों की नकल करता है। वह अपने समाज, अपनी परंपरा, अपने दर्शक की रुचि और भावना की परवाह नहीं करता। आधुनिक भारतीय नाटककार इन शब्दों के मायने रखने की कभी ज़रूरत ही नहीं चाहता है। ये नाटककार अपने देश-समाज की रुचि, परंपरा, दर्शक और उनके पूर्वजों के विश्वास की परवाह नहीं करते। स्वभावतः वे [illegible] नादिरता और अहंकार के वशीभूत हैं।

दरअसल, हमारी आधुनिकता का शुभारंभ ही उस दुर्भाग्यपूर्ण बिंदु से होता है जब हमने ऐतिहासिक कारणों से पश्चिम के यथार्थवादी थियेटर को स्वीकार कर लिया। भारतीय रंग परंपरा, दर्शक संस्कार, जीवन प्रवृत्ति, इन सबको छोड़ कर हमने जब यह मान लिया कि नाटक मानवीय यथार्थ की नकल अर्थात पश्चिम की नकल, तो यहीं से हमारे आधुनिक नाट्य का दुर्भाग्यपूर्ण चरण शुरू होता है। हमने पश्चिम के दृष्टिकोण को अनजाने ही अपना लिया। उसे शुभ मानकर बैठ गए और जब चलना चाहा, तो उसी के पीछे गए।

भारतीय नाटककार यह अच्छी तरह से जानता था कि आँख वह इंद्रिय है जो स्थिर रहते हुए भी बहुत चंचल है। यह इंद्रिय वह इंद्रिय है जो अन्य सभी इंद्रियों को प्रभावित करती है। आँख ही हमारे स्थूल शरीर का सूक्ष्म शरीर है। इस तरह अभिनेता जैसे ही रंगपीठ में प्रवेश करता है, तमाम मुद्राएं, भंगिमाएं, चित्र-मुद्राएं, तालाधिन आँखों की दृष्टियों के आमने-सामने होता है। ये आँखें क्या और कितना देखना चाहती हैं, इसे वे नाटककार जानते थे। इसीलिए उनके संवादों में गति, कर्म-व्यापार और संगीत से भरा उनकी कार्यदशाओं में नृत्य और आंगिक व्यापार की अभिनय भंगिमा की भावानुभूति है। इसी से लगता है कि हमारा नाटककार [illegible] की संतान था, जिसकी जननी [illegible] थी। ठीक इसके विपरीत आधुनिक नाटककार दर्शकों की आँखों में नहीं झांकता। बल्कि उनके कानों तक कुछ पहुँचाना चाहता है।

इस तथ्य की गंभीरता में 'समझने' और 'जानने' की आवश्यकता है।

समस्त कलाओं में नाटक ही ऐसा पुनर्प्रस्तुतिपरक (रिप्रेजेंटल) है। इसका मतलब क्या है? अर्थात जहाँ जीवन की झलक चल रही है, जीवन की कोई घटना।

पड़ती है, हम उसी जीवन दृश्य को रूपक रूप में नाटक बनाकर प्रेक्षक के लिए अभिनेताओं द्वारा प्रस्तुत करते हैं। इसका अर्थ क्या है?

यही जीवन दृश्य का हम दो स्तरों पर अपनी कला द्वारा प्रस्तुति करना चाहते हैं। पहला, जीवन दृश्य का नाटक बनाना, दूसरा उस नाटक को अभिनेताओं द्वारा प्रस्तुत करना। प्रकट है कि नाटक की कला परोक्ष कला है। यह 'बनाने' और 'रचने' अर्थात रूपक की कला है। पहले जीवन से जीवन के रूपक का नाटक बनाना, दूसरे उस नाटक को अभिनेताओं द्वारा दर्शकों के सामने प्रस्तुत करना।

कविता की रचना प्रक्रिया अपेक्षाकृत आत्मनिष्ठ या आत्मिक है। कविता के शब्द कवि के हृदय में होते हुए मुख से निकलकर सीधे श्रोता तक पहुंचते हैं। नाटककार के शब्द उसके नहीं, पात्रों के शब्द होते हैं। पात्र जो यथार्थ व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। इन पात्रों के शब्दों को भी दर्शक सीधे नहीं सुनते, बल्कि अभिनेताओं के माध्यम से सुनते हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि काव्य और नाटक के संबंध में नाटक और नाटककार की कला अपेक्षाकृत परोक्ष कला है। साथ ही यह पुनर्रचित परोक्ष कला है। सभी नाटक लिखना सरल है किंतु नाटक रचना बहुत कठिन है। नाटक लिखना आसान है; नाटक रचना मुश्किल है।

नाटक रचने में नाटककार के अहंकार का पूर्ण विसर्जन जैसे एक शर्त ही है। इसी शर्त के साथ और यह शर्त सहज ही जुड़ी हुई है कि नाटककार वही हो सकता है, जिसे पहले स्वयं जीवन और जगत को देखना आए। जीवन जहां है, उसी अवस्था के साथ जिसका एकाकार संभव हो जाए, वही नाटककार है। यहां हम नाट्य रचना की दृष्टि से एक गहरी बात छिपी हुई है: 'दिखना' और साथ ही उस 'दिखने' का साक्षी भी हो जाना। अर्थात् जीवन और जगत के दोनों पक्ष स्थूल और सूक्ष्म सहज रूप में नाटक में प्रकट होते हैं। सूक्ष्म रस भाव है। स्थूल उसका पात्रगत है।

काव्य और अन्य कला प्रकारों की तुलना में नाटक की एक और विशेष स्थिति है। वह यह, कि नाटक के शब्द अभिनेताओं द्वारा दर्शक तक पहुंचते हैं। नाटक के दृश्य अभिनेताओं, रंगशिल्पियों द्वारा दर्शक की आंखों से पहुंचते हैं, जिसके लिए यह आवश्यक होता है कि वे शब्द, वे दृश्य, किस ढंग से, किस गति से किन अभिनेताओं द्वारा किन दर्शकों तक पहुंच रहे हैं, यह व्यापक संदर्भ बोध नाटक और नाटककार की कला को बहुत ही संश्लिष्ट और जटिल बना देता है। किंतु यह भी सत्य है कि नाटक की परोक्षता ही उसकी सबसे बड़ी शक्ति भी है।

रंगशाला और उस रंगशाला में बैठे हुए दर्शकों की स्थिति में ही नाटक के दृश्य, नाटक के शब्द की रचना और उसके प्रस्तुतीकरण का सारा रहस्य छिपा हुआ है।

जो इस मूल रहस्य को जानता है, वही नाटक रच सकता है। लोग आज भी नाटक 'देखने' जाते हैं और संगीत 'सुनने' जाते हैं। इससे सिद्ध क्या होता है? यही कि दर्शक समाज भी नहीं है पर हमारा नाटककार पश्चिमी हो गया है। दर्शक समाज अपनी वही भूमि, पानी, जिज्ञासु, लालायित आंखों के जोड़े के साथ रंगशाला में नाटक देखने उसी तरह आते हैं, जिस तरह पहले उनके पुरखे आते थे। पर स्थिति आज ऐसी विकट हो गयी है कि उसे 'देखने' को विशेष कुछ नहीं मिलता।

मनुष्य क्या यथार्थ देखना चाहता है? जो वह जीवन में स्वयं देख रहा है। जो है उसे क्या देखना। वह रूपक देखने जाता है। 'देखना' वह होता है जो हम सामान्यतया नहीं देख पाते। 'देखना' वह होता है जो हमारी कल्पना में है, हमारे भीतर है पर जिसे हम स्वयं दृश्य रूप दे पाते हैं, न शब्द रूप। 'देखना' स्थूल में सूक्ष्म रूप का होता है, जिसे देखकर हम अपना यथार्थ बना लेते हैं। यही तो है व्यक्ति में दर्शक की रचना। मनुष्य अपनी रचना को ही देखना चाहता है।

नाटक कथा, संगीत और दृश्य इन तीन तत्वों का एक अद्भुत योग है। किंतु ठीक इसके विपरीत आधुनिक नाटक में यही संयोग गायब है। आज के नाटक में या तो केवल शब्द ही शब्द हैं, या केवल दृश्य ही दृश्य हैं। यही कारण है कि जब हम कालिदास का 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' पढ़ते हैं तो हमें पढ़ने का पूरा सुख मिलता है। जब उसे रंगभूमि पर देखते हैं तब हमें देखने का भी पूरा सुख मिलता है। पर आधुनिक नाटक को जब हम पढ़ते हैं तो हमें पढ़ने का भी पूरा सुख नहीं मिलता। वे अधूरे लगते हैं। जब हम उन्हें देखते हैं तब भी वे अधूरे दिखते हैं। यह जो असंपूर्णता, अधूरापन का बोध हमें आधुनिक नाटकों में होता है, इसके पीछे रहस्य यह है कि इन नाटकों में नाट्यकला के बुनियादी तत्व हैं ही नहीं। इनमें रंग, दृश्य, अर्थात रूपकत्व का इतना अभाव है कि हमारी आत्मिक आंखें अधूरी ही रह जाती हैं। हमारी अतृप्त आंखें जैसे हमारे कानों से कहती हैं कि नाटक में दृश्य, रंग और संगीत, इन आंगिक तत्वों का योग करो।

नाटक को रस से जोड़ने का और रसने का काम सच्चे कलाकार का है, जो पूरे रस को अनुभूति में बदल देता है। इस संदर्भ में नाटककार का रस-दृष्टि से संपन्न होना अनिवार्य है अर्थात अपनी मूल रसदृष्टि से जुड़ा होना अनिवार्य है।

यह विचित्र संयोग है कि आधुनिक थियेटर, हर देश, हर भाषा का 'शोमैन' की भीड़ से घिरा हुआ है। नाट्य को कला स्तर से हटाकर व्यवसाय के स्तर पर खड़ा कर दिया गया है। इसके उदाहरण में थियेटर के बढ़ई, लोहार, बिजलीमैन, मेकअप मैन, दर्जी, रंगरेज, दृश्य सज्जाकार और अभिनेता ही नहीं हैं, बल्कि इस पूरी फौज का जो सिपहसालार है, निर्देशक, जो नाटक की पूरी प्रस्तुति के साथ नाटक की एक दृश्य व्याख्या भी देता जो मनगढ़ंत है, वह जब तक इतनी फौज का

मिलता रहता है, अगर आपमें रचनाकार नहीं। जब तक उसके लिए अपनी रंगभूमि का खोया हुआ कला आधार पुनः प्राप्त होना संभव नहीं है। जब तक निर्देशक अपने अभिनेताओं, विभिन्न 'आयामों' के अतिरिक्त ही नाटक की व्याख्या करना चाहेगा, तब तक वह पूरे निर्देशक नहीं बन सकेगा। निर्देशक का 'धर्म' है कि वह नाटक के सारे आयामों, शब्दों, रंग-रेखाओं और उसमें निहित लय, ताल, मुद्राओं, भंगिमाओं को पकड़कर उन्हें एक रस अर्थ में स्थापित कर दे। किंतु अगर नाटक ही कलाविहीन है, अगर नाटककार स्वयं कलाकार नहीं, केवल 'लेखक' है, तो नाटक कला का कोई अस्तित्व ही संभव नहीं है।

नाटककार रचनाकार अथवा कलाकार कब, कैसे होता है? वे कौन-से मूल पदार्थ या तत्त्व हैं, जिनसे नाटककार की सृष्टि होती है? वे तत्त्व हैं :

केवल क्रिया-व्यापार नहीं, कथा,

केवल दृश्य नहीं, रूपबंध,

केवल संवाद नहीं, संगीत,

नाटक लोगों को नहीं बनाता। लोग ही नाटक को बनाते हैं। इसलिए नाटक रचना के लिए आवश्यक है वे लोग, जीवन, मनुष्य, उल्लासमय, कर्मठ, उत्साही लोग, जीवन को प्यार करने वाले, जीवन को जीने वाले लोग। जीवन के बारे में सबसे अलग-थलग होकर केवल हवाई चिंतन करने वाले लोगों में नाटक का कोई संबंध संभव नहीं। जहां जितनी संस्कृति है, वहां ही उतना नाटक है। बीज में अगर प्राण नहीं है, बीज में अगर पूरा जीवन नहीं है तो प्रकट वृक्ष क्या होगा इसमें न? नाटक सबसे सामाजिक है।

इसीलिए अपनी कला दृष्टि, कला के प्रति निष्ठा, मूलतः अपने समाज के साथ होती है। विशेषकर नाटक की कला, क्योंकि वह अपने समाज, अपने सहृदय के लिए है, अतः उस सहृदय की अपेक्षा को अपने सामने रखकर प्रस्तुत होती है। नाटककार में जो सृजनशक्ति, जो नवीनता है, वह उस समाज की है जिसका वह सहृदय सदस्य है। इसीलिए हमारे यहां कला का नामकरण व्यक्ति पर नहीं, समय, काल और युग पर है।

अपने नाटक की वो शक्ति, जो सतत मेरे चित्त में बनती है, वह है : वह समाज में मर्यादा, जीवन में आचार, बुद्धि में विधान और हृदय में सौंदर्य।

अपने नाटकों में सहृदयता पर क्यों इतना बल है। इतना बल कि हमारे यहां नाटक रचने, नाटक करने को नाट्य 'बंधन' कहा गया है। बंधन से ही संभवतः ग्रंथ शब्द

बना है। जो ग्रंथियों में मुक्त है, वहीं ग्रंथन है। ग्रंथन जब तक संभव नहीं है, तब तक चित्त में गांठ है। प्रश्न कभी संभव है, जब विविध वादों में विचरित हुई बुद्धि उन सब विवादों से ऊपर उठकर निश्चल भाव से एक तत्त्व में (अवस्था) स्थिर हो जाये। नाटक शब्द में ही यही संकेत है। जहां कोई अंतर नहीं है वहीं नाटक है।

आधुनिक नाटक में अलगाव अंतरायण है। वह बुद्धि के अधीन है। वाद-विवाद ही इसका आधार है। जैसे — यह बुद्धिवादी, तर्कवादी नाटककार का लेखन है। वह नाटक के पात्रों के द्वारा नहीं, स्वयं अकेले नाटककार द्वारा तैयार किया हुआ है। वे लिखे हुए नाटक हैं, रचे हुए नाटक नहीं। नाटककार इस कदर अपनी शैली, अपने विचार, अपने विश्वासों के पाशों में बंधा हुआ है कि इससे रचना नहीं हो पाती।

रचना के लिए स्वतंत्रता, आत्मविश्वास, उदारता, निर्भयता और रूपकत्व बोध की जरूरत है, वह सब आज आधुनिक नाटककार में गायब है। नाटककार जब तक अपने नाटक के प्रत्येक पात्र को अपने स्वयं से अलग उसका अपना स्वतंत्र चरित्र-व्यक्तित्व नहीं दे सकता, वह नाटक कहां से रचेगा?

नाटक-नाट्यकृति के संदर्भ में, अवस्था की अनुकृति की सच्चाई को समझना अनिवार्य है। रंगभूमि की भाषा-मुहावरा में 'अवस्था' की 'अनुकृति' के अर्थ की चर्चा हम रूपकत्व और नाटकत्व अध्याय में कर चुके हैं।

नाट्य रचना के विशेष संदर्भ में अवस्था की अनुकृति क्या है?

इसे अपने जीवन व्यापार में ही देखना शुरू करें। हम सबका अपना-अपना जीवन हर वक्त किसी न किसी कार्य में संलग्न रहता है। कार्य-कारण हमारे भीतर भी है, हमारे बाहर भी। इसी का विस्तार हम अपने चारों ओर के समाज, परिवेश में पाते हैं। ध्यान से देखिए, जैसे कार्य-व्यापार, क्रिया-प्रतिक्रिया का एक विराट शृंखलाबद्ध तंत्र (सिस्टम) अबाध गति से चल रहा है। इसी तरह नाटककार स्वयं को, और नाटक में दूसरे पात्रों को रच रहा है। उन सबकी अपनी-अपनी क्रिया-प्रतिक्रियाओं का संसार है। यही सबसे बड़ी चुनौती है नाटककार की। वह इन सारी कई बार परस्पर विरोधी, समानांतर कार्य करती क्रियाओं का कर्ता और साक्षी दोनों एक साथ कैसे बने?

हमारे श्रुति गाथा में एक कथा है। एक अश्वत्थ वृक्ष है। उस पर दो पंछी बैठे हैं। एक पंछी फल खा रहा है। दूसरा पंछी उस फल खाते हुए पंछी को देख रहा है। नाटककार को भी दो काम हैं, वही दो पंछी के। एक कर्ता, एक द्रष्टा। एक करने वाला दूसरा उसका साक्षी। जब तक क्रिया का कोई साक्षी न हो, तब तक वह क्रिया कार्य नहीं है? रंगभूमि का नाटक भी जगत का नाट्य है, कार्य जगत का

नहीं।

नाटककार की रचना का मर्म और महत्व यही है कि वह अपने आदर्श विमुक्त हो अपने पात्रों के चरित्रों की दुनिया का कर्ता हो, ऐसा स्वतंत्र कर्ता जो प्रत्येक पात्र की क्रिया को उसके ही अस्तित्व के भीतर से देखे, रचे और सबको दिखाये। क्रिया-व्यापार का कर्ता, यही पाश्चात्य नाटक का 'पात्र' है। इसी पात्र के बीज से नाटक की 'कथा' होती है। इसी 'बीज' का 'फल' नाटक है।

पश्चिम के चरित्र और भारत के पात्र, पश्चिम के 'ड्रामा' और भारत की 'कथा' के अर्थों और अभिप्रायों में जो मूल अंतर है, उसका आधार भारत और पश्चिम की दो विभिन्न जीवन दृष्टियों का अंतर है। इस बुनियादी अंतर को मनुष्य के प्रति दोनों संस्कृतियों की अवधारणा में हम देख सकते हैं।

ग्रीक नाटककार और ग्रीक दार्शनिकों ने मनुष्य को 'रेशनल एनीमल' अर्थात् बौद्धिक प्राणी माना। आगे चलकर डार्विन से जब बानर और इन्सान का बोल-बाला हुआ तो मनुष्य औजार बनाने वाला पशु हो गया। 'औद्योगिक क्रांति' के बाद मनुष्य को पशु के स्थान पर 'इंडीविजुअल' अर्थात् 'व्यक्ति' की संज्ञा मिली।

हमारी संस्कृति में मनुष्य, ईश्वर का ही अंश है। यही नहीं, बल्कि सारा पशु जगत, प्राणी जगत और प्रकृति सहित समूचा दृश्य जगत उसी ईश्वर का अंश है। यही कारण है कि पश्चिम के 'ड्रामा' का मूलाधार संघर्ष है, वह है मनुष्य-मनुष्य के बीच, मनुष्य और समाज के बीच, मनुष्य और प्रकृति के बीच। इसके ठीक विपरीत भारतीय नाटक की आत्मा 'रस' है। रस यानी सबका एकात्म होना। परस्पर संबंधित, युक्त।

पश्चिम, अध्यात्म को भी अपनी तर्कबुद्धि से समझना चाहता है, जबकि अध्यात्म अंतर दर्शन और भाव का विषय है। इसी तरह हमारी परंपरा अनुसार क्रिया-व्यापार अर्थात् कर्म धर्म-प्रेरित है। पश्चिम की परंपरा अनुसार, क्रिया-व्यापार अस्तित्व केन्द्रित है। भारत में वस्तुओं, संबंधों के संपूर्ण अनुभव में आने वाली समस्त अवस्थाओं के पूर्णतः अनुभूति पक्ष पर बल दिया जाता रहा है। पश्चिम में इनके अन्वेषण पक्ष पर बल रहा है। भारत के नाटक जहां हृदयग्राही हैं वहां पश्चिम के ड्रामा बुद्धिग्राह्य हैं।

भारतीय नाटक अपने क्रिया-व्यापार में इस 'कल्याण' से प्रेरित है कि 'मनुष्य' के दुःख कैसे दूर हों, और उन आंतरिक स्थितियों और अवस्थाओं को कैसे बदला जाय, जिनके कारण मनुष्य इतना दुःखी है। इन क्रिया-व्यापारों के पीछे मौजूद परिवेश को निर्धारित करना तथा उन्हें बदलना भी आन्तरिक चिंता नहीं है। भारत के ही नहीं बल्कि एशिया के सभी [illegible] का आरंभ इस प्रेरणा से होता है कि दुःख

निवृत्ति ही प्रधान पुरुषार्थ है। अन्य विचारक यह भी मानते हैं कि 'व्यक्ति' के सुख-दुख के कारण स्वयं उसके 'चरित्र' में ही विद्यमान है।

भारतीय नाटक के 'चरित्र' को 'पात्र' कहने के पीछे एक यह कारण भी रहा है। इसलिए नाटक में मानवीय अवस्थाओं व आत्मानुभूति के स्तर पर साक्षात्कार पर इतना अधिक बल दिया गया है। मनुष्य को उसकी आंतरिक और बाह्य प्रकृति की संपूर्णता में देखने की अपेक्षा इसकी चिंता ज्यादा की गयी है कि मनुष्य-कर्मों का परिष्कार कैसे हो? इसके विपरीत। ड्रामा में क्रिया-व्यापार अधिक जटिल, संश्लिष्ट यहां तक कि रहस्यमय आवरणों में छिपे हुए रहते हैं। वे रहस्यमय इसलिए लगते हैं कि हम उनके बौद्धिक, भावनात्मक, नैतिक व्यक्तित्व को ठीक ठीक नहीं समझ पाते। मानव व्यवहार की जटिलता वस्तुतः मनुष्यों के विभिन्न स्वभावों, मनोभावों, विश्वासों तथा आदर्शों की अभिव्यक्ति है। जटिलता का सबसे बड़ा अधिष्ठान मनुष्य को विविध रूप देता है। फलतः हम मानव व्यवहार की जटिलता को भीतर से ही समझ सकते हैं, सिर्फ बाहर से नहीं।

अब हम आगे दो और बिंदुओं पर विचार करेंगे। पहला बिंदु है नाट्यकृति में उसका अपना स्वरूप, जिसे 'दृश्य' नहीं 'अंक' स्तर और क्रम में ग्रंथित करते हैं। ये दोनों बिंदु ऊपर से देखने में अत्यंत सरल हैं और सैकड़ों सालों से हम इन शब्दों का इस्तेमाल बिना इनका अर्थ जाने और बिना इनकी गहराई में गये करते जा रहे हैं।

भारत का नाटक 'रूपक' का एक प्रमुख भाग है : रूपक किसे कहते हैं? रूपक का मूल है 'रूप'। 'रूप' का अर्थ आकार नहीं है जिसे अंग्रेजी में हम 'फार्म' कहते हैं। रूप माने संपूर्ण। हमारी दृष्टि अनुसार यह रूपाकार विराट जगत, विभिन्न असंख्य स्तरों वाला है। इन सारे रूपों में वही एक अदृश्य, अरूप ईश्वर सूक्ष्म रूप में विद्यमान है या हम यों कह सकते हैं कि यह रूपाकार दृश्य सृष्टि 'उसी' अदृश्य अरूप की ही अभिव्यक्ति है। 'रूप' के इसी गहरे प्रसंग से हमारे नाटक में पात्र की अवधारणा की गयी है। मतलब मनुष्य रूप में हम सब पात्र हैं। पात्र, जो पहले खाली नहीं है। पात्र में 'बीज' पहले से ही संजोया हुआ है। ये पात्र रिक्त हैं भरने के लिए। अपनी पात्रता अनुसार पात्र में से कर्म निष्पन्न होता है, दूसरों से संबंधित होता है, और पात्र के कर्म और संबंधों से भाव बनता है जिससे पात्र जो कर्मों और संबंधों से अब तक रिक्त था, धीरे-धीरे भरता है। शास्त्रीय अर्थ में बर्तन, खाली पात्र को नहीं कहते। जो खाली है, वह बर्तन है। पात्र वह है जिसमें स्थायी भाव पहले से ही विद्यमान है। पात्र का भाव जब तक रस नहीं बनेगा, तब तक रस कहां से उत्पन्न होगा? जो पात्र की पात्रता और उसमें भाव का रस बनना देख लेगा वही सच्चा नाटककार होगा और उसका नाटक, नाट्यकृति होगा।

पश्चिमी दृष्टि अनुसार वहां पात्र नहीं है, वहां चरित्र है, यानी 'कैरेक्टर'। चरित्र

के 'मैन' का अर्थ है वह पश्चिमी जीवन दृष्टि का सूचक है। पश्चिम के मनुष्य के बारे में एक तो वहां के दार्शनिकों के विचार हैं जैसे अफलातून, अरस्तू से डार्विन आदि तक। ईसाई संतों के अनुसार मनुष्य की रचना ईश्वर की प्रतिकृति (इमेज आफ गाड) में हुई है। 'इमेज' शब्द लैटिन शब्द 'इमो' से बना है, इसी 'इम' से 'इमेज', 'इमेजिनेशन', 'इमिटेशन' आदि शब्द और भाव निकलते हैं। प्राचीन ग्रीक थियेटर से दो शब्द आते हैं — 'माइम' और 'मिमेसिस'। पश्चिम के थियेटर में प्राचीन युग से लेकर मध्य युग तक हम अनेक नाट्य प्रकारों में 'माइम' और 'मिमेसिस' की परंपरा पाते हैं। इसमें अभिनेता किसी चरित्र की नकल करता है, और इस नकल में इस कदर भावातिरेक की सीमा पर पहुंच जाता है कि लोग उससे अभिभूत हो जाते हैं। इसके पीछे दृष्टि यही है कि मनुष्य ईश्वर की प्रतिकृति की रचना (मैन इज द पोर्ट्रेट ऑफ द इमेज इमिटेशन आफ गाड) है। इस प्रतिकृति प्रकार में आत्मविभोर होने का रहस्य यही है कि मनुष्य जब अपने 'ओरिजिन' (इमेज ऑफ गाड) के प्रति जागरूक या सचेत होता है, वही आत्मसुख है। मनुष्य की उत्पत्ति ईश्वरीय है, पर उसे इसकी प्रतीति नहीं होती। सत्य के प्रति अविश्वास, प्रतीति के प्रति अप्रतीति, अदृश्य के प्रति अंधविश्वास, इन्हीं से निकला है, पश्चिम का कैरेक्टर, 'चरित्र'। पश्चिमी धर्म के हिसाब से मनुष्य स्वर्ग या प्रभु के धाम से पतित 'फालेन' जीव है। मनुष्य ईश्वरीय प्रतिकृति होने के बावजूद 'मिट्टी का बना' 'मेड ऑफ क्ले' होने के कारण भ्रष्ट और 'पतनशील' है। 'पतन' के कारण उसमें जो द्वैत और आत्मविरोध पैदा हुआ है, उससे उसकी पूरी बनावट में हर वस्तु का विरोध उसके सामने प्रस्तुत है जैसे गाड का विरोधी 'मैन', लाइफ का विरोधी 'डेथ', स्पिरिट का विरोधी 'मैटर', माइंड का विरोधी 'बाडी', 'स्पिरिट' का विरोधी 'मैटर', सेल्फ का विरोधी 'नानसेल्फ', फादर का विरोधी एडम, एंड का विरोधी 'पोयम', रिजेक्शन का विरोधी 'अफर्मेशन' आदि। पश्चिम के ड्रामा का चरित्र इस अंतर्विरोध जन्य संघर्ष का विशेष उदाहरण है। उसकी मानसिक बनावट में कहीं यह बात जमी हुई है कि वह एक ऐसा व्यक्ति, इंडिविजुअल है, जो ईश्वर के देश अथवा स्वर्ग से गिरकर पृथ्वी की मिट्टी में आ गया है। इस तरह उसके चित्त में 'मैन' और 'डिवाइन' के बीच एक सतत संघर्ष है। ड्रामा की आत्मा न इस तरह संघर्ष का ही प्रतिरूप है — कैरेक्टर। साथ ही मनोवैज्ञानिक रूप से उसके चरित्र में 'रेशनल' और 'इरेशनल' के बीच में भी सतत लड़ाई छिड़ी हुई है। पश्चिम के चरित्र का सामान्यतः यही मापदंड है।

स्वर्ग से धरती पर गिरे हुए हैं
तारे मस्तक
प्रकाश जाने की।
सारे इनकी वृथा समाप्त हो जाते हैं पल में

यदि आत्माहीन हुआ था केवल संघर्ष का
तो आखिर किसका
पतन हुआ था स्वर्ग से धरती पर
हम सब रत हैं संघर्ष में
सब के सब
हम सब रत हैं संघर्ष में
ईश्वर 'औरों' का तरफ लड़ने वाले नहीं हैं अब।
हम सब रत हैं संघर्ष में
सब के सब
हम सब रत हैं संघर्ष में।"

पश्चिम में मनुष्य के प्रति यह दृष्टि है कि उसका चरित्र निर्दिष्ट या बनाया गया है। इसमें स्वभावतः यह आशंका भर कर गयी है कि वह कभी भी निरस्त हो सकता है। जिसका निर्माण एक बार हो जाता है वह फिर दोबारा बन नहीं सकता। दूसरी तरफ उसके प्रति यह भी कहा गया है कि व्यक्ति में जो दैवी तत्व है, अगर इस तत्व से उसका संबंध जुड़ता है तो वह फिर वही 'आदम' बन सकता है, और यदि दैवी तत्व से उसका संबंध नहीं जुड़ पाता तो वह 'शैतान' होता है। 'आदम' और मनुष्य के बीच अर्थात स्वर्ग और पृथ्वी के बीच दूतों, जनक यहां प्रेतात्माओं की कल्पना की गयी है। ये प्रेतात्मा मनुष्य से बार बार बातें कहता है (मैकबेथ), वे आने वाली घटनाओं के बारे में संकेत करती हैं और दूसरे, उनके प्रति वे मनुष्यों को आगाह करती और बलि देने की सलाह देती हैं ताकि उनका कल्याण हो। किंतु स्वभावतः व्यक्ति नहीं मानता, वह मनमानी करने को मजबूर है, फलतः चरित्र एक ओर अपने ही विरुद्ध लड़ाई करता है और दूसरी ओर अपने चारों ओर की व्यवस्था, परिवेश के खिलाफ लड़ाई लड़ता है। 'कैरेक्टर' की इसी मान्यता से पश्चिम का 'ड्रामा' निरूपित हुआ है। आरम्भ से 'ट्रेजेडी' की यही अवधारणा है।

'कैरेक्टर' के विकास-क्रम में दो चरण हमें मिलते हैं। चरित्र का यह संघर्ष कि 'मैं कौन हूं', इसी चीज से ग्रीक ट्रेजेडी और शेक्सपियर की ट्रेजेडी का प्रतिपादन हुआ है। शेक्सपियर के बाद इब्सन और टेक्नालोजी का भी प्रभाव पश्चिम पर पड़ा, उससे उनका बुनियादी प्रश्न और संघर्ष 'मैं कौन हूं' की जगह 'मनुष्य क्या है' हो गया। जाहिर है कि पहला प्रश्न जहां आध्यात्मिक तत्व लिये हुए था, वहां दूसरा प्रश्न समाजशास्त्रीय हो गया है। चरित्र के पहले चरण में जहां करुणा और काव्य तत्व था, वहां दूसरे चरण में चरित्र के साथ मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र और तमाम भौतिक तत्व जुड़ गये। चरित्र में जितना कुछ विवेक और अविवेक, बुद्धि और भावना, भीतर और बाहर, यथार्थ और 'भ्रान्ति' के बीच संघर्ष छिड़ा, इसी का सहज उदाहरण पश्चिम का सारा आधुनिक ड्रामा है।

इसके विपरीत पात्र के संदर्भ में भारतवर्ष में बना हुआ यह जानना महत्त्वपूर्ण है। संस्कृत से लेकर इस देश के मध्ययुगीन लोक नाटकों में पात्र अवधारणा का प्रतिफलन है। पात्र की कल्पना वस्तुतः अध्यात्म और धर्म दोनों को साथ लेकर चली है। यह पूरा दृश्य जगत एक विराट पात्र है, जिसे कभी महाकाल नाम दिया गया है, कभी राम, कभी विष्णु, कभी शिव, कभी कृष्ण आदि। इसी विराट पात्र से दुष्यंत, शकुन्तला, विशाखदत्त, चाणक्य आदि पात्र आते हैं। संभवतः यही कारण है कि हमारे यहाँ रूपकों में पौराणिक कथा और ऐतिहासिक पात्र ही लिये जाते थे। सामाजिक और यथार्थवादी पात्र नहीं। पात्र वस्तुतः सनातन हैं। कथा की तरह लोक और शास्त्र इन दोनों पक्षों में पात्र सर्वत्र मौजूद हैं। जो पात्र जिस अवस्था में है तदनुरूप उसमें भाव, रस आता है और इन्हीं से दर्शक-रूपी पात्रों में भी रस का संचार होता है।

भारत का आधुनिक नाटक चूँकि अपनी संस्कृति से पूर्णतः विच्छिन्न है, इसलिए उसमें न कहीं कोई पात्र है, न कहीं कोई चरित्र। पात्र के स्थान पर चरित्र का अवतरण ही आधुनिक भारतीय नाटक है। चरित्र के पीछे जो दृष्टि और चित्त (धर्म) है वह हममें स्वभावतः पश्चिम के समान नहीं है; इसलिए हमारी चरित्र अवधारणा में पात्र और चरित्र का अजीबोगरीब घालमेल है। उदाहरण के लिए जयशंकर प्रसाद का स्कंदगुप्त अपने सपनों की चरम सीमा पर पहुँचकर जब यह कहता है कि "मुझे भागियों की समाधि और पगलों की सिद्धि दोनों एक साथ चाहिए", इसमें कहीं एक ओर विभावैश्वर्य के पुरुष का 'पात्र' का तत्त्व है, तो दूसरी ओर हैमलेट के 'चरित्र' का तत्त्व।

भारतीय नाटक अपने बीज और बिंदु में एक ओर 'गर्भ' के भीतर से आता है, दूसरी ओर नाटक के पूर्ण जीवन को भारतीय जीवन की तरह रस में आत्मबलि माना जाता है। इन दोनों दृष्टियों से अंक अर्थात् 'गर्भ' से गोद तक की जो यात्रा जीवन में होती है वही यात्रा एक अंक से दूसरे अंक में पूर्ण होती है। अंक इसलिए भी है कि भाव भरे पात्र को अंक में सँभाले हम उत्तरोत्तर रस की ओर ले जाते हैं। भाव कहीं छलके नहीं, पात्र कहीं टूटे नहीं, इसलिए नाटक को अंक में बाँधे रखना है, जैसे माँ शिशु को अंक में बाँधे रखती है।

ठीक इसके विपरीत एक-एक 'एक्ट' की श्रृंखला से 'एक्शन' बनता है (एक्ट से एक्शन)। 'एक्शन' ही चरित्र है। 'एक्शन' ही 'ट्रेजेडी' है। "ट्रेजेडी इज इमिटेशन ऑफ एक्शन"। मनुष्य जब स्वर्ग से गिरा, अपने दैवी तत्त्व से अलग हुआ तो उसमें अहंकार (आई, ईगो) की वृत्ति विशेष पैदा हुई जो बहुत वजनी पत्थर की तरह चरित्र के 'मैं' के गले में बंधा उसे नीचे की तरफ खींचता चला आ रहा है।

हमारा आधुनिक नाटक इसी पत्थर से बंधे हुए व्यक्ति की एक ऐसी यात्रा है, जो न पात्र ही पा रहा है न चरित्र। न वह पूरी तरह से अंक समझ रहा है, न

'गुरु' कर पा रहा है। इसलिए वर्तमान नाटक में चाहे वह पश्चिम का हो या भारत का, उसमें 'गुरुत्व' की गरिमा नहीं है और न ही अंक का क्रम।

संदर्भ

1. नाट्यशास्त्र, प्रथम अध्याय 50-55
2. वही, 55-58
3. [illegible]
4. [illegible]
5. [illegible]
6. [illegible], पृष्ठ 172
7. वही, पृष्ठ 173-174
8. [illegible] 2053
9. [illegible]

रंग रचना और करना

आज हम जीवन और रंग इन दोनों क्षेत्रों में समान रूप से तीन प्रमुख तत्त्व देखते हैं — [illegible], सज्जा और व्यवस्था। इनके आगे हम परिणाम के रूप में दो प्रवृत्तियाँ देखते हैं — उत्तेजना और सनसनी ('थ्रिल', 'स्पीड')। यह सब 'करने' ('डूइंग') के क्षेत्र में आते हैं। आज हमारे जीवन का प्रत्येक व्यापार चाहे वह किसी भी स्तर, क्षेत्र, धरातल का क्यों न हो वह 'करने' के अनिवार्य रूप में जुड़ गया है। उदाहरण के लिए विवाह का कर्म ले लीजिए। विवाह अपनी बुनियाद में एक अनुष्ठान है, एक ऐसा मिलन पर्व है जहां सृजन की अनंत संभावनाएं हाथ पसारे खड़ी हुई हैं। किंतु आजकल विवाह के दृश्य को देख लीजिए। विवाह तय करने से लेकर विवाह संपन्न होने तक भागना, दौड़ना, धूम धड़ाका, व्यस्तता अर्थात् केवल एक ही तत्त्व 'करना' उजागर होकर रह जाता है। शेष जो एकांत रचना और मंगल पक्ष है उसका दूर दूर तक कोई पता नहीं रह जाता। प्रायः 'करने' का यही रूप हमारे आपसी रिश्तों और संबंधों में भी झलकता रहता है। धर्म और आचरण पक्ष में यही तरह कर्मकांड का रूप धारण कर लेता है और वास्तविक धर्म का तत्त्व गायब हो जाता है।

मनुष्य मात्र के समस्त कर्मों और आचरणों को हम अगर ध्यान से देखें तो हम उन्हें दो वर्गों में बांट सकते हैं— 'रचना' और 'करना'। कर्म के ये दोनों पक्ष मनुष्य के व्यक्तित्व पक्ष को ही उभारते हैं. इन दोनों पक्षों में दो बुनियादी भाव मौजूद रहते हैं। रचना में ध्यान योग और संकल्प के तत्त्व प्रमुख हैं। तभी रचने के कर्म को कला का दर्जा प्राप्त हो जाता है। अर्थात् जो रचा गया है वही कला है। 'करने' के पीछे बुद्धिमत्ता, चालाकी, आत्मलिप्तता और सतर्कता के तत्त्व प्रधान हैं।[1]

'रचने' और 'करने' में जो अंतर हमने किया है दरअसल वह दोनों को स्पष्ट रूप से समझने के लिए किया गया है और मनुष्य की वृत्तियों में जो अंतर

दिखाना है, वह भी किसी व्यक्ति के लिए किया है। मनुष्य एक सम्पूर्ण सत्ता है। उसमें 'रचना' और 'करने' के विविध आयाम, जिन्हें अलग से पकड़ना बहुत कठिन हो जाता है। 'रचना' का नैरंतर्य मनुष्य में सदा आविष्ट रहता है। उसे हम उसकी स्वतन्त्रता, समर्पण और निजता अथवा स्वामित्व कह सकते हैं। ये 'रचना' की अनिवार्यताएं हैं।

नाटक का मामला कहीं एक ओर व्यावसायिक माध्यम है, दूसरी ओर सामूहिक, तीसरी ओर यह मिश्र माध्यम है। इसके तमाम घटकों की रचनाओं का पूर्वापर सहयोग है। यहीं यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि नाटक में 'रचना' के स्तर पर सहयोग क्या है?

प्रायः सभी कलाओं के पीछे संरक्षण की शक्ति है। हर देश, युग की कला के इतिहास में यह प्रकट है कि कला के विकास में संरक्षकों ने कितनी महत्त्वपूर्ण भूमिकाएं अदा की हैं। आधुनिक काल में न राजा संरक्षक हैं, न धर्मगुरु संरक्षक हैं। यहाँ संरक्षण का कार्य केवल दो शक्तियों के हाथ में है। राज्यसत्ता और पूंजीशक्ति। इन परिस्थितियों में वर्तमान कला प्रायः 'करने' के पक्ष की ओर ज्यादा झुकती चली जा रही है। अर्थात् जैसे राज्य ने सरकार ने कलाकार को आदेश दिया या इच्छा की, तदनुसार कलाकार ने अपना कार्य आरंभ कर दिया। ध्यान देने की बात यह है कि इस तरह यहाँ सृजन संभव नहीं है, मात्र 'करना' सम्भव है। किन्तु यहाँ गंभीर बात यह है कि इस परिस्थिति में 'रचने' की जगह केवल 'करने' की जिम्मेदारी कलाकार पर ही आती है, संरक्षक (राज्य और पूंजीपति) पर नहीं।

इस बात की गंभीरता को समझना आवश्यक है। रंग कला गहरे भोग संवेदन और दर्शन व्यापार में जुड़ी हुई है। जो लोग रंग कला को कला का दर्जा न देकर केवल व्यवसाय का दर्जा देते हैं, सृजन का दर्जा न देकर केवल शौक मानते हैं, हम यहाँ उनकी बात नहीं कर रहे हैं। हम उस प्रश्न और चुनौती के सामने अपने आपको खड़ा पा रहे हैं जहाँ रंगानुभव एक कला है, जहाँ यह शौक नहीं, सृजन है, जहाँ पर मनोरंजन के साथ-ही-साथ आत्मरंजन भी है। इस संदर्भ में संरक्षक चाहे कोई भी हो, राज्य, पूंजीपति या दर्शक समाज, उसके संरक्षण के भीतर ही हमें अपनी बात कहनी है, यह सत्य है। कलाकार के दो संरक्षक होते हैं — बाहरी संरक्षण और आन्तरिक संरक्षण। जिस क्षण हम बाहरी संरक्षण से अपने सृजन कर्म के प्रति बनावटी होते हैं, यानी उसके प्रति अपना दायित्व निभाने का फैसला करते हैं उसके बाद हम अपनी रचना के केवल संरक्षक बनते हैं। जहाँ यह आत्मसमर्पण का भाव आता नहीं है, वहाँ 'रचना' नहीं है, केवल 'करना' है, जिसे हम आम तौर पर चलताऊ भाषा में 'पेट की' कहते हैं। मतलब 'जैसी दिहाड़ी, वैसा काम, जैसा काम, वैसी दिहाड़ी'। मजदूर और कलाकार का अंतर कर्म के पीछे छिपे

मनोभाव का ही अंतर है। मनोभाव ही किसी कार्य को 'रचना' बना देता है अन्यथा उसी कार्य को मात्र 'करना' बना देता है। यहाँ कर्ता, कलाकार के व्यक्तित्व की दो विशेषताओं की ओर संकेत है — उसकी अपनी धारणा तथा उसका धैर्य और साहस।

जिस क्षण कलाकार किसी कार्य को करने के लिए तत्पर होता है, वहीं से उसके तप का शुभारंभ होता है। कार्य और कर्ता का भेद उसी क्षण समाप्त हो जाता है। जिस माध्यम से वह कार्य करने जा रहा है, जैसे 'पत्थर', लोहा, धातु, लकड़ी या अभिनेता, जिसके द्वारा वह उस कृति को पूर्ण करने चला है, उन सबसे वह कलाकार संबद्ध हो जाता है। संस्कृत शब्द में दो अंश हैं — 'सम' उपसर्ग तथा धातु है। तप के मायने हैं — तपस्या, साधना, एकाग्रता और संकल्प अर्थात् क्रिया। रचना, कर्म के साथ, रचना में साधना और संकल्प के लिए धैर्य का होना तभी संभव है जब कर्ता का स्वभाव उसके साथ जुड़ जाता है। कलाकार के संबंध में स्वभाव ही 'स्वधर्म' है। कोई कार्य जब 'स्वधर्म' से जुड़ता है तभी वह रचना हो जाता है। यह स्वधर्म से जुड़ना है जो उसके साथ ही कर्ता को भिन्न-भिन्न इंद्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर उस कर्म से जोड़ता है, जहाँ उस कर्म के अतिरिक्त कोई अन्य क्रिया संभव नहीं होती। इसी रचना प्रक्रिया को साधना कहा गया है। कठोपनिषद् में यमराज ने नचिकेता को कर्म के बारे में तत्त्व का ज्ञान दिया है। यमराज ने स्पष्ट कहा है कि जब इस प्रकार की कर्म साधना में कोई भी संलग्न हो तो तब उसे अपने मन को (इंद्रियों सहित) ज्ञानस्वरूप बुद्धि में विलीन कर देना चाहिए। तत्पश्चात विज्ञानस्वरूप (विवेकात्मिका) बुद्धि की वृत्ति के सिवाय चित्त की और कोई वृत्ति न रह जाय। अपने स्वधर्म के अनुसार कर्म में संलग्न मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है। इस प्रसंग में यहाँ तक कहा गया है कि स्वाभाविक कर्म दोषयुक्त होने पर भी उसे नहीं त्यागना चाहिए क्योंकि धुएँ से अग्नि के समान सभी कर्म किसी न किसी दोष से आवृत हैं।

आनंद कुमारस्वामी ने कहा है कि "कलाकार कोई विशेष व्यक्ति नहीं होता, अपने-अपने क्षेत्र में, स्वभावतः हर मनुष्य कलाकार है जो अपने कर्म को स्वधर्म से जोड़े हुए है। इस संदर्भ में उन्होंने कहा है कि जो व्यक्ति स्वभाव के अनुसार अपने व्यवसाय में नहीं लगा है, वह वस्तुतः कर्महीन है। कोई भी व्यक्ति चाहे बढ़ई, लोहार, मूर्तिकार, चित्रकार, कवि, वकील, किसान, गृहिणी या किसी भी व्यवसाय में अपने स्वधर्म के अनुसार संलग्न है तो वह कलाकार है। इसी अर्थ में कुमारस्वामी का यह प्रसिद्ध कथन है, "जो कलाकार नहीं है उसे समाज में किसी पद का अधिकार नहीं है।"

रचना के साथ ही हम एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न से सहज ही जुड़ जाते हैं — किसी भी कर्म (रचना) का प्रतिफल है, उसको पाने वाला, उसका उपभोग करने वाला

और इस प्रसंग में रचनाकार का क्या संदर्भ है? क्या यह सब अपने सुख के लिए है अथवा व्यापक जनहित के लिए? ये सभी प्रश्न वस्तुतः मनुष्य की आकांक्षाओं, इच्छाओं से जुड़े हुए हैं। जब तक हमारा समाज परंपराओं को मानकर चलता था, कुल परिवार और समाज मान्यताओं, मर्यादाओं के अधीन था तब मनुष्य की इच्छाएं नियमित और नियंत्रित थीं। आज अपनी पसंद और निजी सुख ही हर वस्तु अथवा रचना के प्रति एक निर्णायक बिंदु बन चुका है। इस दशा में 'रचना' की संभावना बहुत कम हो जाती है। अपनी पसंद और निज सुख, ये पशु संसार की प्रवृत्तियां हैं, मनुष्य संसार की प्रवृत्तियां नहीं हैं। केवल सुख का जीवन जिसका अंतिम लक्ष्य सिर्फ सुख है इसे कुमारस्वामी ने पशुवत 'नयुनह्युमन' कहा है। प्रत्येक पशु केवल यही जानता है कि उसे क्या पसंद है और इसी सुख की खोज में वह घूमता-फिरता है।

जीवन में सुख का बहुत महत्त्व है। सुख तत्त्व जीवन की पहली प्रेरणा है। किंतु जब सुख को पूरे जीवन में अलग मानकर और सुख को सर्वथा निजी मानकर और विवेक-रहित होकर अपनाया जाता है तभी यह असामाजिक हो जाता है। जहां 'रचना' ईश्वर के प्रति (स्वधर्म) एक पूजा है, वहां अपना कर्म करना ईश्वर के प्रति सौंप देना है, वहां निश्चय ही वह कर्म संपूर्ण होता है। इस संपूर्णता में मात्र निजी सुख को सौंदर्य की कसौटी मानना केवल अज्ञान है। आधुनिक युग के मूल में व्यक्तिवाद प्रखर है, आज निजी सुख की कसौटी इतने भयंकर अस्त्र के रूप में इस्तेमाल हो रही है, जिसके सामने अनादि काल से असंख्य जातियों के कलाकारों, उनकी कलाकृतियों को हम अपने आगे तुच्छ और प्रभावहीन सिद्ध करने की प्राणनाशी चेष्टाएं कर रहे हैं।

भारतीय कला चिंतन की मूल उपलब्धि जहां समस्त कलात्मक कृति को अभिव्यक्ति की एक संपूर्ण क्रिया माना गया है। वहां अपना ध्यान हटाकर उसी को केवल मानसिक क्रिया रूप या अभिव्यक्ति माना जा रहा है। शुद्ध भारतीय दृष्टि में कलात्मक वस्तु क्या है, इसका अत्यंत सरल, सहज उत्तर, हमारे यहां, शास्त्रीय कला हो या लोक कला, यह दिया गया है कि कला हमारे उल्लास, आनंद का प्रकाश है। यह उल्लास और आनंद भी रचनाकार के स्वभाव से जुड़ा हुआ है। अर्थात 'रचना' वह वस्तु है, जिसका रचयिता कोई है। वह अपने ज्ञान के अनुसार ही अपनी कृति की रचना है। इसके लिए हमारे यहां उदाहरण दिया गया है कि जैसे पुत्र पिता का प्रतिरूप है, वैसे ही कोई भी रचना रचनाकार के ज्ञान तथा उसके अंतःकरण का प्रतीक है। जर्मन साधु और दार्शनिक मीस्टर एकहार्ट ने कहा है, "कला ईश्वरीय देन है। मनुष्य का सारा जीवन सौंदर्य उपासना की ओर उन्मुख है। शुद्ध कला मनुष्य के लिए असीम आनंद है।" कुमारस्वामी के शब्दों में "कलाकार कोई विशेष व्यक्ति नहीं वरन् प्रत्येक व्यक्ति एक खास किस्म का कलाकार

है।" जब मैं गुलाब के फूल का चित्र बनाना चाहता हूं तो मेरी आत्मा में गुलाब के फूल का चित्र होना चाहिए। चित्र में वास्तविक गुलाब के फूल की नकल नहीं करेंगे। वह कहता है कि रचना के तीन चरण हैं : पहला — रचना के विचार के रूप (फार्म) की उत्पत्ति, दूसरा है — मन:चक्षु के सामने उस रचना का प्रतिबिंबित होना, तीसरा है — उसके आकार ग्रहण की क्रिया। इस क्रिया द्वारा उस विषय की ओर ध्यान जाता है अर्थात् रचनाकार उस विशेष 'विषय' का 'ध्यान' करता है। चाहे वह वस्तु अथवा 'विषय' एक फूल हो, या देवता हो। एक कलागुरु ने अपने शिष्य से कहा कि तुम देवताओं के चित्र बनाओ इसके लिए तुम जाओ और ध्यान में बैठो। जब तुम्हारे चित्त में कोई विशेष प्रेरणा या उत्साह जागे तब रचना करना। भारतीय रचनाकार, मूर्तिकार, चित्रकार 'ध्यान', 'योग' की इसी विधि का प्रयोग करते थे और करते हैं।

कला या 'रचना' किसी वस्तु या विषय की गुण व्याख्या और उसके संपूर्ण रूप का सारांश है। यह दृश्यगत होते हुए भी सांकेतिक, रूपात्मक और प्रतीकात्मक है। कला की रचना की असंख्य विधियां और शैलियां हैं किंतु कला सार्वभौम वाणी है। शैलियां तो कलाकार की अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र हैं। पर कृति में, रचना में प्रत्येक रचनाकार अपना अस्तित्व छोड़ जाता है। यह अस्तित्व ही 'परम पद' है जिसका संबंध उसकी आत्मा से है। जब रचनाकार की रचना कला की पराकाष्ठा, 'दिव्य पद' पर पहुंच जाती है तब उसका अंत हो जाता है। दूसरे शब्दों में रचनाकार का ध्येय अपनी रचना के द्वारा उस 'परमपद' को प्राप्त करना है जिसके आगे कुछ भी 'पाना' या 'रचना' शेष नहीं रह जाता। आनंद कुमारस्वामी ने लिखा है कि कला निर्माण का व्यापक लक्ष्य यही है कि उसके द्वारा प्रकृति की विभिन्न स्थितियों और प्रकृति की समग्र अवस्थाओं का दर्शन हो। भारतीय दृष्टि में 'रचना' के माध्यम से प्रकृति की विभिन्न स्थितियों और संपूर्ण अवस्थाओं का दर्शन का अर्थ है सृष्टि के सब प्राणियों, चरित्रों को ईश्वर के समीप ले जाना।

कला की मान्यताओं में अपनी परंपरा और रूढ़ियों का असाधारण महत्त्व है। यह एक ओर सनातन है तो दूसरी ओर औपचारिक है। इसी को कला-परंपरा कहते हैं। रचनाकार या कलाकार का भाव अथवा भावों, विचारों, का प्रदर्शन रूढ़ि अथवा परंपरागत संकेतों चिह्नों के द्वारा होता है। यह सब होते हुए भी जिस रचना में अदम्य प्रेरणा, उल्लास और रंग नहीं होता वह कला नहीं है। आधुनिक काल के अधिकतर कलाकारों की कला में कोई प्रेरणा, उल्लास और रस क्यों नहीं होता, वह 'रचना' न होकर केवल 'करना' क्यों रह जाता है। अब हम इसकी चर्चा करेंगे।

पश्चिम में रचनाकार की दुनिया में रचना एक विचार मात्र है। यह संघर्ष वहां सत्रहवीं शताब्दी में छिड़ गया था। अठारहवीं शताब्दी तक आते-आते राज्य

और अर्थव्यवस्था के पूर्ण विकास के साथ-साथ कृति और कृतिकार, अर्थात् रचना और रचनाकार के बीच में एक तीसरी बड़ी शक्ति आकर खड़ी हुई जिसका नाम है ग्राहक-व्यवस्था, बाजार की खोज और मांग। इस तीसरी शक्ति को हम रचना-प्रक्रिया के संदर्भ में आधुनिक संरक्षक कहेंगे। रचनाकार के भीतर स्थित संरक्षक की स्थिति में अब बुनियादी अंतर आ गया है। जाहिर है आधुनिक अर्थ, राज्य और समाज व्यवस्था में रचनाकार का वह आंतरिक संरक्षक जाने अनजाने तभी तक उसके भीतर वर्तमान रहता है जब तक उसे बाहर के संरक्षकों से प्रतिष्ठा नहीं मिलती। इसीलिए हम प्रायः देखते हैं कि प्रतिष्ठित रचनाकार, शिल्पकार, रंग-कर्मी, नाटककार, कवि, चित्रकार, मूर्तिकार की श्रेष्ठ कृतियां वही होती हैं जो उनके सहज प्रारंभिक दिनों की देन होती हैं। जब वह बाहर के संरक्षकों द्वारा प्रतिष्ठित नहीं रहता। अर्थात् जब वह सहज ही अपने अन्तःसंरक्षक के अधीन अपनी रचना का सृजन करता है। आश्चर्य की बात यही है कि अपने सहज सृजन के आधार पर जैसे-जैसे वह प्रतिष्ठित होने लगता है, वैसे-वैसे वह आत्मसंरक्षक को दूर हटाता हुआ बाहर के क्रय-विक्रय प्रधान संरक्षक के अधीन होता चला जाता है। उनकी यही प्रतिष्ठा लिप्सा, बाहरी संरक्षक की अधीनता उसे अंततः रचनाकार की भूमिका से च्युत कर मांग के अनुसार 'कारीगर' को बाध्य कर देती है।

आज की भारतीय व्यवस्था पश्चिम से उधार ली हुई, या यों कहें कि अंग्रेजों की गुलामी के कारण हम पर आरोपित उन्हीं की व्यवस्था का विकृत रूप है। इस व्यवस्था के स्वरूप को यदि हम एक शब्द में कहना चाहें तो यह व्यवस्था नीचे से ऊपर तक, समस्त दिशाओं में शोषण की व्यवस्था है। इसे समझने के लिए और रचना के प्रसंग को और स्पष्ट करने के लिए हम अपने यहां की शिक्षा-व्यवस्था को ले सकते हैं। अंग्रेजों के आने से पहले हमारे यहां की शिक्षा-व्यवस्था गुरु और शिष्य के संबंधों की दुनिया थी। इस दुनिया में गुरु शिष्य को जो शिक्षा देता था, उसमें इस देश की परंपरा, अतीत के ऐश्वर्य और विद्या प्रकारों का ज्ञान देता था। इस ज्ञान के आधार पर शिष्य के अपने 'स्वधर्म' के अनुसार उसका व्यक्तित्व और चरित्र निर्मित होता था। गुरु से प्राप्त ज्ञान को गुरु से अपने चरित्र के माध्यम से जीवन में अमल। अनुरूप इसी मूल्यों की शृंखला चलती जाती थी। यहीं से उसे अपने जीवन की एक रचनात्मक सार्थकता का बोध मिलता था। इसी ज्ञान और अनुभव प्रमाण से, वह अपनी परंपरा, अपनी सनातनता और अपने प्रसंगों से अपना वर्तमान और भविष्य को देखता समझता था।

ठीक इसके विपरीत आधुनिक शिक्षा व्यवस्था ने गुरु-शिष्य परम्परा को तोड़-कर हमें एक कटी पतंग के रूप में अपनी अपनी जड़ से उखाड़ कर नए प्रवाह की धारा में बहते हुए उस वृक्ष की तरह कर दिया जिसकी अपनी कोई पहचान या दिशा ही शेष न रह गयी हो। आधुनिक शिक्षा ज्ञान की विरोधी है। इसका पूरा

वल 'जानने' पर नहीं है, बल्कि सूचना पर है। आज के विद्यार्थी के सामने जब भी कोई ज्ञान की बात कही जाती है, तो उनकी सहज प्रतिक्रिया यह होती है कि उस ज्ञान से क्या लेना-देना है, उसकी आवश्यकता में उसके अतीत और परंपरा का क्या संबंध है। उसमें कोई आस्था या निष्ठा का संचार नहीं। उसे मात्र वह तर्कबुद्धि चाहिए जिसके ऊपर सारी वर्तमान राज्य और अर्थव्यवस्था खड़ी हुई है। इस तर्कबुद्धि से जो संस्कृति आज हमारे चारों ओर पनपी हुई है उसमें एक ही मनोभाव कार्यरत है कि हम जिस तरह से बिक जायें, जिस तरह से दूसरे को खरीद लें, किसी भी तरह अपनी तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति में सफल हो जायें। इस व्यवस्था में कहीं भी कोई विकल्प नहीं रह गया है, कोई गुरु नहीं है जो हमें संस्कार बनाकर आत्मशासित अनुभव करे, अपना धैर्य और शौर्य तरंगित करे। आज शिक्षक इस पूरी व्यवस्था का ऐसा पुर्जा हो चुका है, जिसे यह भी पता नहीं कि वह क्या बेच रहा है और क्यों बेच रहा है। वह अपनी परम तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के पीछे पागल है। इस वातावरण में जो परिवेश हमारे चारों ओर मकड़ी का जाल बुन रहा है, उसमें 'रचना' कहां और कैसे संभव है? भूख और काम की तृप्ति ही हमारी नितांत तात्कालिक आवश्यकताएं हैं। ये आवश्यकताएं रचनाकार को रचना के मूल केंद्र से पूरी तरह [illegible] हैं। उसी विवेक और आत्मदर्शन की संस्कृति से अलग कर देती है। उसमें यही तर्कबुद्धि सक्रिय रहती है कि जो चीज बिक नहीं सकती वह निरर्थक है। बिकता वही है जो व्यवस्था के अनुकूल या उसी के इशारे और मांग पर रची जाती है।

जानना ही 'रचना' करना है। वर्तमान व्यवस्था में निर्मित ज्ञान की संस्कृति 'जानने' शब्द से जुड़ी नहीं है। फिर यह जानना संभव कैसे होगा। यदि हम वस्तुओं और संकल्प से 'जानने' की दिशा में अग्रसर होते हैं तो आज की तात्कालिक आवश्यकताएं हमारा रास्ता रोकती हैं और हमें स्वच्छंद 'रचना' के मार्ग से पथभ्रष्ट करती हैं।

इसका मार्ग क्या है? इस संघर्ष से लड़ने का एक ही उपाय है कि हम बाह्य संरक्षक पर निर्भर होने के बजाय अपने भीतरी आत्म-संरक्षक को जागृत करें। 'रचना' के और अपनी तात्कालिक आवश्यकताओं पर नियंत्रण करना शुरू करें। 'रचना' के लिए स्वयं निर्मित अभाव या गरीबी को उसी तरह वरण करें जैसे एक संत स्वीकार करता है — एक महत्तर लक्ष्य-सिद्धि के लिए। आधुनिक व्यवस्था जिस तरह आत्मज्ञान के खिलाफ है, उस ज्ञान के लिए भौतिक सुखों का त्याग ही एकमात्र विकल्प है, जिससे 'करने' के पागलपन से मुक्त होकर मनुष्य 'रचना' की ओर लौट सकता है।

भारतीय कलाकार जीवन और आत्मा को जोड़ने वाले अनुभव संबंधी मूल्यों के मापदंड से अपनी रचना आरंभ करता है। यहां सृजन शक्ति आध्यात्मिक एवं

आंतरिक दृष्टि से प्राप्त होती है। भौतिक आवश्यकताओं का स्थान यहां सदैव गौण रहा है। इस दबाव को हमारे यहां सदा जानबूझकर हल्का कर दिया गया है। वह अपने आप में इतना अल्प होते हुए इन्हें तुच्छ के सामर्थ्य को प्राप्त कर लेता था, जहां वह मनुष्य की सनातन आवश्यकताओं के द्वार पर दस्तक देता था। उसकी रचना में एक अत्यंत प्रबल कोटि की आंतरिक छाप लग पड़ती थी, जब दर्शक और श्रोता के चित्त को उत्तम भाव, उच्च संस्कार, स्पन्दन उपलब्ध होते थे। उनकी रचना में ऐसे प्रतीक तत्त्व को गौण कर दिया जाता था जो रचना के महत्तर उद्देश्यों की सिद्धि में बाधक होता था या जो किसी भी रूप में उस परम उद्देश्य की परिकल्पना में विचलित करता था।

यहां, अवस्थाओं और उनके भावों का सच्चाई के साथ अनुभूति करना हमारी रचना की मुख्य पहचान है। पर अनुभूति इस अर्थ में नहीं कि जिस जगत में हम रहते हैं, उसकी बाह्य आकृतियों की सच्ची प्रतिकृति अथवा उनके उद्देश्य से स्थूल रूप के प्रति यथार्थ प्रकृतिवादी या स्वाभाववादी निष्ठा प्रदर्शित की जाये। किसी ऐसी चीज को जिसे हमारी आंखें किसी विशेष स्थान पर देख चुकी हैं, या देख सकती थीं, उसे उसकी भावोत्तेजना प्रदान करना (जैसा कि पश्चिम के आधुनिक थियेटर और फिल्म में है) हमारा उद्देश्य नहीं है। हमारा उद्देश्य है यह दिखाना कि जीवन के हर पल में, अवस्था में, एक असाधारण सार्थकता, स्वाभाविकता, आत्म-विकता है। पर यह भौतिक वास्तविकता से अधिक कुछ है, ऐसी वास्तविकता है जिसे अन्तरात्मा तुरन्त पहचान लेती है कि यह उसके अपने भीतर की है, अपनी अन्तरात्मा की है। हमारी स्थूल आंखें जिसे देखने में स्वयं असमर्थ हो जाती हैं।

हमारे रचनात्मक जगत में जिस भावना और साधना के द्वारा यह प्रभाव उत्पन्न किया जाता है, वह भारतीय चिंतन की अन्तर्मुखी दृष्टि का अपना विशेष गुण है।

रचना के संदर्भ में एक बुनियादी बात के स्पष्टीकरण की नितांत आवश्यकता है। भारतीय परंपरा में सृष्टि और रचना का कर्ता केवल भगवान है। हमारे यहां का यह परम विश्वास है कि ईश्वर ही, या ब्रह्म, अगम अगोचर ही वही इस जगत, संपूर्ण ब्रह्मांड का एकमात्र सर्जक और रचनाकार है। यहां हर तत्त्व और हर वस्तु का एकमात्र रचनाकार वही है। इस संदर्भ में मनुष्य न तो रचनाकार है, न वह किसी सृष्टि का सर्जक है। पश्चिम का मनुष्य अपने सर्जक अहंकार में इस प्रकार उत्तेजित और अभिमान में भरा है कि जैसे वह स्वयं या सृजन का वही कर्ता है। संभवतः यही कारण है कि पश्चिमी संस्कृति में कर्म, अर्थ, व्यवसाय पर इतना अधिक बल है कि वहां इस प्रश्न का हल खोजा किया गया है कि मनुष्य आखिर है क्या और जो कुछ वह कर रहा है उसका प्रयोजन क्या है?

भारतीय दृष्टि और परंपरा के अनुसार जैसा कि कहा जा चुका है, हर रचना में

वही जाति [illegible] हुआ है। [illegible] नहीं कर सकता। [illegible] रचना [illegible] स्वभाव [illegible] [illegible] एक मनुष्य [illegible] जो पहली [illegible] मिला है, वह [illegible] वह मिलता, वह पहली [illegible]।

मनुष्य, जो [illegible] हो चुका है, [illegible] 'आकृति' [illegible] है। 'आकृति' [illegible] (डिफाइण्ड) [illegible] [illegible] केवल [illegible] है। [illegible] नहीं है। [illegible] होता [illegible] रचना [illegible] मैं रचना कर रहा हूँ, वह [illegible] बोध है। मुझे [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] में कहीं नहीं है।

> नहीं हूँ मैं रचना
> रचता रहा……।

संदर्भ

1. [illegible]
2. [illegible]
3. [illegible]

कथा श्रद्धा : विश्वासपात्र

अपने नाटक का प्रथम तत्त्व है कथा। कथा में जो वस्तु है, सामग्री है, वस्तु का जो स्वत्व है, वही वस्तु कथा है। इसीलिए कहा गया — कथावस्तु। तो कथा क्या है? कथा की स्रोत सामग्री क्या है? कथा को समझने के लिए चाहे वह यक्ष-कथा हो, चाहे महाभारत कथा या राम-कथा, या पशु-पक्षी, देव-दानव, मनुज देव-कथा हो, उसे समझने के लिए यह जानना अनिवार्य है कि कथा के बारे में लोक-विश्वास क्या है? हमारे वेदों, उपनिषदों, पुराणों, बौद्ध जैन वाङ्मय में क्या है? इन सबमें वह कौन-सी एक चीज समान है जिसने सूत्र रूप (कथा) में जीवन, चिंतन, कला आदि सबको इस तरह अपने आप में बांध रखा है? वस्तुतः यह कथासूत्र ही तो अनेक पूर्वविद्ध मणियों, जीव जगत, दृश्य-अदृश्य भूमिकाओं के बीच से गुजरकर नयी-नयी कथाएं रचता है और अपने से पहले की प्राप्त कथाओं में आता, जीवन रस भरता रहता है।

ऐसा क्यों?

कैसे?

सनातन धर्म में एक धारणा है — निरंतर जीवन को धर्म। श्रद्धा भाव पैदा करने की। धर्म के सारे लक्षणों में प्रथम लक्षण है — श्रद्धा से युक्त होकर श्रद्धावान होना, क्योंकि ज्ञान की प्राप्ति संभव है। संशय को विनाश का मुख्य कारण माना गया है।[1] इसीलिए हम पाते हैं, उपनिषद, गीता, रामायण आदि सभी का आरंभ संशय से हो रहा है। संशय का उत्तर स्वभावतः श्रवण और ज्ञान के प्रति श्रद्धा है। इसी धरातल से निरंतर कथा रचने और कथा जीने की धारणा और परिपाटी रही है। यह कथा कभी कोई कपोल-कल्पना नहीं, जीवन सत्य के साक्षात्कार की विधि है। जीवन सत्य के सबसे ज्यादा समीप जो भाषा है, उसके द्वारा उसे व्यक्त करने का माध्यम ही कथा है। तभी हमारी मान्यता रही है — '[illegible] पुराणम्', इसकी कथा है — 'विष्णुपदम्'। इन्हीं धारणाओं पर जो वाङ्मय आगे बढ़ा, पल्लवित हुआ, प्रस्तुत हुआ, उन्हीं की कथा से नाट्यशास्त्र का शुभारंभ है।

इन कथाओं का संकेत गहरा है। वृत्रासुर हो या त्रिपुर, इनसे इंद्र शिव घिर जाते हैं। सीमित हो जाते हैं। सीमा से मुक्ति तभी संभव है, जब सीमा, सीमा न रह जाये। क्योंकि सीमा शत्रु स्वयं इंद्र या शिव से बंधा हुआ है। इसलिए दोनों की मुक्ति एक साथ है। कथा की यही आत्मा हमारी सारी कथा परंपरा में विद्यमान है। राम का शत्रु यानी राम की सीमा रावण है, उसी तरह रावण की सीमा राम है। इसलिए दोनों की मुक्ति एक साथ है। अर्थात जीवन में जो द्वैत भाव है, वह नष्ट हो जाये, यही है कथा का मर्म। और कथा के इस मर्म का विस्तार अपने यहां यज्ञ के रूप में हुआ है। नाट्य रूप में हुआ है। 'वस्तु' का अग्नि और जल में विसर्जन रूप में हुआ है। अपनी कथा का स्वरूप या वस्तु यही है कि जब द्वैत नष्ट होता रहता है तो सहज ही सृष्टि रचना होती रहती है। अर्थात् अवकाश की बार-बार प्राप्ति। जैसे एक स्तर पर यज्ञ का मर्म है, वैसे ही भारतीय रंग-स्तर पर नाट्य का यही लक्ष्य है।

कथा रचने, कहने और सुनने की प्रक्रिया ही जीवन की प्रक्रिया है। जीवन की प्रक्रिया कथा की प्रक्रिया है। कथा जीवन की आकांक्षा है। आकांक्षाओं के सूत्र अपनी कथाओं से जुड़े हैं आदि से आज तक सर्वत्र। हर कथा के मूल में कोई न कोई आकांक्षा है। हर कथा में जीवन संभावना ही 'वस्तु' है। कथा रचने वाला, कथा का वस्तु होने वाला, कथा कहने वाला, कथा सुनने वाला, कथा का रंग करने वाला, भूमि पर नाट्य करने वाला और कथा को देखने वाला, ये सारी प्रक्रियाएं सृष्टि की साझेदारी है।

इसी अपने यहां कथाएं अनंत हैं। जितना अनंत जीवन, उतनी ही उसकी अनंत कथाएं। शिव ज्ञान के देवता (शब्द) हैं, पार्वती, श्रद्धा (भाव) की देवी हैं। शिव-पार्वती की कथा समूचे भारत के कोने-कोने में मिलेगी। राम मर्यादा के प्रतीक हैं। कृष्ण आनन्द रस (काम) के प्रतीक। राम-कृष्ण, जीवन के दोनों पक्षों के जरिये सारा भारत देश एक सूत्र में बंधा हुआ है। मानव समाज, व्यक्ति के जीवन को जीने, नियमित करने के लिए जिन मूल्यों और तत्त्वों की आवश्यकता है, वे ही वस्तुएं हैं हमारी कथाओं में। और श्रद्धा ही सबके केंद्र में स्थित है। अगर श्रद्धा नहीं तो कथा का जीवन अस्तित्व कहां?

जिस धर्म से भारतीय संस्कृति परिभाषित होती है, कथा, उसी की संवाहिका है। कथा विवेक का ही स्वरूप है, जिसमें न अन्धविश्वास है न नीच-ऊंच, न छुआछूत, न सड़ी हुई रूढ़ियां। हर व्यक्ति अपने ढंग से कथा का नवीनीकरण करता है। धर्म की तरह अपनी शैली में। वह अतीत का लगता है, पर यह है हर क्षण वर्तमान का। धर्म में जो श्रद्धा एक सनातन भाव से अभिन्न है, वही श्रद्धा कथा-रूप है।

वेद, उपनिषद्, पुराण, बौद्ध, रामायण, महाभारत की कथाओं में धर्म ही तो अभिव्यक्त है। यहां तो हर कथा में धर्म की ही तरह नैतिक मूल्य और उसकी चेतना

का बोध होता है।

कथा में देव, दानव, मनुष्य, पशु-पक्षी, मानो सृष्टि के स्थूल और सूक्ष्म सब समाहित हैं। इसका अर्थ यही है कि व्यापक अर्थ में, धर्म की ही तरह सभी एक ही चेतना-सूत्र में पिरोये हुए हैं।

इसी विशेष संदर्भ में हमारे पूर्वजों ने यह कहा है कि धर्म प्राकृत या मनुष्यकृत नहीं है, वह मनुष्य के द्वारा आदर्श रूप में स्वीकृत और अनुकूल विश्वसत्ता का नियम है। धर्म का स्वरूप, अनुरंजन कथा के स्वरूप में है, ऐसा लगता है। कथा में मनुष्य के साथ पशु-पक्षी जगत, वनस्पति के साथ देवी-देवता, ग्राम-पंडित, कीड़े-मकोड़े, जीव जंतु, जगत परस्पर एक सूत्र में गुंथे हैं। इससे यह प्रकट है कि सब परस्पर, एक-दूसरे के जीवन में पहले से ही कहीं न कहीं जुड़े हैं, परस्पर सम्बन्धित हैं। भूमि में फसल बोते हुए, फसल ग्रहण करते हुए किसान को, व्रत, त्यौहार, पर्व मनाती हुई स्त्री को, राज्याधिकार ग्रहण करते हुए राजा को, रंगभूमि पर प्रवेश करते हुए अभिनेता, रंगकर्मी आदि को यह स्मरण कराया जाता है कि उन्हें न जाने कितनी दृश्य-अदृश्य शक्तियों से यह कार्य करने को मिला है? इसीलिए कि वे अपनी सनातन कथा को याद रखें और उनके प्रति अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करना न भूलें।

वह सनातन कथा क्या है?

कथा यह है कि किसी व्यक्ति का, या सार्वजनिक, या गृहस्थी का जीवन हो या कर्मभूमि का जीवन, सभी में सर्वत्र एक नित्य और शाश्वत नियम की व्याप्ति है। इस जगत में कुछ भी दूसरे से अलग नहीं है।

इस कथा के अनुपालन और अभिव्यक्ति के लिए जिन गुणों की आवश्यकता है, उनमें बुनियादी गुण है — श्रद्धा।

श्रद्धा का अर्थ है— हृदय की अनुकूलता। जीवन में धी का संपादन। धी या बुद्धि की अवधारणा में ज्ञान और साधना दोनों का समान महत्त्वपूर्ण माना गया, क्योंकि जीवन में चेतना, जीवन का सर्वोत्तम स्थान है। इसलिए हमारी कथा, जो मूलतः धीरोचित है, उसमें संग्राम सत्-असत् के बीच है। महाभारत का लक्ष्य ही धीरत्वयुक्त धर्मिष्ठ जीवन की उपलब्धि है। महाभारत और रामायण में यही संग्राम का अर्थ है। दो विभिन्न स्वार्थों का संघर्ष न्याय और अन्याय का संग्राम नहीं होता, वह लड़ाई होती है। चाहे वह सौ कौरवों का स्वार्थ हो या सिर्फ पाँच पाण्डवों का। इस प्रकार की लड़ाई में युधिष्ठिर, अर्जुन जैसे उदात्त पात्र स्वार्थ त्याग को ही श्रेयस्कर मानते हैं। इसी भारतीय धर्म परंपरा में गांधी का अहिंसा की भावना से युक्त, अहिंसात्मक संग्राम उल्लेखनीय कथासूत्र है। दो विभिन्न स्वार्थों के बीच

की लड़ाई है, युद्ध है। इसलिए उसमें न्याय-अन्याय का कोई विचार ही नहीं है। प्रतिनायक प्रतिद्वंद्वी है। प्रतिद्वंद्वी शत्रु है। शत्रु का किसी प्रकार से, किसी भी साधन, उपाय से पराजय, मृत्यु नाश ही एकमात्र लक्ष्य है।[1]

हमारी कथा का आधारभूत सांस्कृतिक श्रद्धा है और श्रद्धा से उद्भूत जीवन, सौंदर्य का भाव है, इसलिए हमारे नाट्य में जिस कथा का सर्वोच्च स्थान है, वह है कथाओं में भी प्रधान कथा, जिसे नाटक में आधिकारिक कथा कहा है। आधिकारिक शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए उसका लक्षण करते हैं। फल पर स्वामित्व प्राप्त करना अधिकार कहलाता है, और उस फल का स्वामी अधिकारी कहलाता है। उस फल या फलभोक्ता के द्वारा फल-प्राप्ति तक निर्वाहित वृत्त या कथा आधिकारिक वस्तु कहलाती है। उदाहरण के लिए रावणवध, सीता प्राप्ति तथा रामराज्य की स्थापना रामायण कथा का फल है, उसके स्वामी या भोक्ता राम हैं अतः आरंभ से रावणवध, सीता-प्राप्ति तथा राज्याभिषेक तक की कथा आधिकारिक कथावस्तु है।[2]

इस कथा का अंतिम या फल क्या है, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए दशरूपककार बताते हैं कि इसका फल (कार्य) धर्म, अर्थ तथा कामरूप त्रिवर्ग है। यह फल कभी तो इनमें से एक ही हो सकता है, कभी दो वर्ग और कभी तीनों वर्ग।

इस त्रिवर्ग रूप फल के साधन की विवेचना करते हुए बताते हैं कि "रूपक के आरंभ में अत्यल्प रूप में निर्दिष्ट वह हेतु जो रूपक के फल का कारण है तथा इतिवृत्त में अनेक रूप में पल्लवित होता है, बीज कहलाता है। अल्परूप में निर्दिष्ट हेतु जो वृत्त के कार्य (फल) का साधक है तथा वृक्ष के बीज की तरह पल्लवित होकर अनेक शाखा वृक्ष की भांति कथा के रूप में विस्तृत होता है, वह पारिभाषिक रूप में बीज कहलाता है।[3]"

यह कथा हमारे नाट्य और अपनी रंगभूमि की, अंग्रेजों से पहले के भारत की है। अंग्रेजी भारत में अपनी कथा के स्थान उनकी कहानी (प्लाट) का 'आरोपण' शुरू हुआ। सन् 1760 से 1830 के बीच हर क्षेत्र में भारतीय संस्थाओं और व्यवस्थाओं के पीछे हमारे सांस्कृतिक नाट्य-धारा (नृत्य, कला, इतिवृत्त) को नष्ट करके अंग्रेजों ने अपनी 'स्टोरी-प्लाट' का ढांचा खड़ा किया।

सन् 1920 तक भारत देश के प्रभुत्वशील वर्ग का एक बहुत बड़ा हिस्सा अपने समाज से अलग-थलग हो चुका था और उसने अपने निजी, सार्वजनिक और साहित्य कला जीवन को विजातीय विचारों, मान्यताओं और मापदंडों के आधार पर ढालना

शुरू कर दिया था। नाट्य क्षेत्र में इसका सबूत एक ओर पारसी थियेटर में है, दूसरी ओर उसके प्रभाव में है नाटककार जयशंकर प्रसाद के नाट्य में उनका सारा कथा विधान।

कथा ने निरंतर धर्म के ही समान कथा के बारे में भी एक आम धारणा यह बनायी जाती रही कि कथा तो हमारे अनपढ़ भाइयों, पिछड़े लोगों की चीज है, जो अपनी गरीबी, शोषण, निराशा और हार का जीवन जीते रहे हैं। भारतीय शासकों और इस देश के सामाजिक, धार्मिक रीति-रिवाजों के द्वारा जिनका भयानक शोषण हुआ है और जिन्हें अत्यंत पीड़ाजनक स्थितियों में रखा गया था, कथा उनके मन बहलाव का साधन है। ऐसा साधन जो उनकी परिस्थितियों, अंधविश्वासों की देन है।

इसी झूठ और भ्रम प्रचार और प्रसार की पृष्ठभूमि में यहां कथा के स्थान पर स्टोरी कहानी (गल्प) की स्थापना आधुनिक ड्रामा और 'फिक्शन' से शुरू हुई। हमने यह सोचने-विचारने की जरूरत ही नहीं समझी कि आखिर हमारी भी अपनी कोई कथा स्मृति है, अपने विचार हैं।

कथा और कहानी दोनों मूलतः दो विभिन्न जीवन दृष्टियों के रूप हैं।

कहानी आधुनिक राजनीति और अर्थशास्त्र की देन है। जिन्होंने अंग्रेजी राजनीति और अर्थनीति शुरू की, उन्हें इससे पहले एक 'फिक्शन' की दुनिया बनानी थी। उनकी यह 'फिक्शन' दुनिया हर मुल्क में सही समय पर ईजाद की गयी। जिसे मार्क्स ने 'बुर्जुआ' कहा है, फिक्शन उसी का आविष्कार है। वह चूंकि घोर यथार्थवादी था, उसके आगे ऐसा देश था जिसमें अनेक बाधाएं थीं। स्वभावतः उन सारी बाधाओं को खत्म कर देना उसके लिए जरूरी था। भारतीय कथा उसकी सबसे बड़ी बाधा थी। इसके मायने यह हुए कि उसकी सारी कोशिश यह थी कि जो हो रहा है और जो होगा, सिर्फ उसी की स्टोरी तैयार की जाए ताकि क्या बर्बाद हो रहा है, और क्या बर्बाद हो चुका है, ऐसी कथा को न कहीं से सुन सकें न ही जान सकें। लोगों का ध्यान सिर्फ फायदे और मनोरंजन तक ही सीमित होकर न रह जाए। फायदे और मनोरंजन की दुनिया में फंसा हुआ आदमी न स्वयं कभी आगे देख सकता है, न कभी पीछे। उसे सिर्फ दौड़ते रहना होता है। यह निरंतर दौड़ ही स्टोरी का यथार्थ है। यही उसका संसार है। उसके यथार्थ से परे (परा) क्या है। उसके परे है अपनी कथा। कथा जीवन संग्राम है। कहानी निजी लड़ाई है जहां कोई जीवन-मूल्य नहीं — अपने फायदे के सिवा।

कहानी में जबर्दस्त तर्क होता है।

कहानी में जबर्दस्त यथार्थ होता है।

कहानी में हर घटना और चरित्र की बौद्धिक गारंटी होती है।

कहानियाँ तैयार करने वाले इसकी बड़ी चिंता रखते हैं कि कोई और सोचने नहीं पाये, कोई और देखने न पाये। वे सबके लिए खुद सोचते रहते हैं और सबके लिए बराबर देखते रहते हैं और उन्हें हर वक्त यह गारंटी देते हैं कि आपको न देखने की जरूरत है, न सोचने की। इसीलिए वे सबके लिए अपनी 'फिक्शन' की दुनिया में हर वक्त नयी-से-नयी कहानी ईजाद करने में लगे होते हैं। उनकी कहानियों में हर वक्त उन नये दुश्मनों और नये खतरों से आगाह किया जाता है, जिनकी वजह से लोगों की जान-माल खतरे में है। इस कहानी को गढ़कर वे लोग, जो खुद लोगों के दुश्मन और खतरे हैं, उन पर पर्दा डाल देते हैं।

कहानी में तीन तत्त्व होते हैं। एक ओर 'मैन काइंड' दूसरी ओर 'मैन काइंड' के दुश्मन और तीसरी ओर उन दुश्मनों से 'मैन काइंड' की रक्षा करने वाला कोई एक हीरो, जैसाकि बंबइया फिल्मों की कहानी में आप अक्सर देखते हैं। नयी कहानी का ये ढांचा हालीवुड का है, या इंग्लैंड या फ्रांस, जर्मनी का, इसका पता लगाना बहुत मुश्किल है। मुश्किल और कठिन ही उसका स्वरूप है।

कहानी का सीधा-सादा लक्ष्य यह है कि जो लोग अर्थ और राजनीति का फिक्शन तैयार करते हैं, उन्हें अपनी कहानी में यह दिखाना पड़ता है कि जो उनके रास्ते में रुकावट डालेंगे, या जो उनकी लक्ष्य-प्राप्ति में बाधक होंगे, उन्हें वे इतनी ही आसानी से मिटा सकते हैं और बर्बाद कर सकते हैं, जैसाकि उनकी हर कहानी में होता है। कहानी का सिर्फ एक हीरो सारी बाधाओं को मिटाकर, दुश्मन को खत्म कर देता है। सारे लोग इस हीरो का काम सिर्फ देखते रहते हैं। मतलब लोग सिर्फ मूक दर्शक रहें।

कहानी भीड़ के लिए, जिसे 'मास सोसायटी' कहते हैं, उनके लिए बनायी जाती है। कहानी में सिर्फ यह दिखाना होता है कि अच्छा जीवन और बुरा जीवन क्या होता है? अच्छा जीवन वह है जिसमें आदमी बिना बोले-चाले चुपचाप अपना काम करे। मतलब माल तैयार करे और जो माल तैयार करने वाली संस्था और 'मास सोसायटी' के कायदे-कानून हैं, उनका चुपचाप पालन करे और मजे से अपने घर में रहे। मजे से खाये, चुपचाप रेडियो सुने, टेलीविजन देखे और सुबह आठ बजे काम पर नहीं, धंधे पर निकल जाये। शाम को सात-आठ बजे सीधे उसी घर में लौट आये। जो जरा भी इस रास्ते के खिलाफ चले, वही बुरा आदमी है। जो आदमी काम करते-करते दूसरों से बातें करता है, लोगों से मिलता-जुलता है और इधर-उधर की बातें सुनता और कहता है वह बुरा आदमी है। और सबसे बुरा आदमी वह है, जो लोगों में बैठकर लोगों को कोई कथा कहता-सुनता है।

इनसे बुरा और खतरनाक आदमी वह है जो लोगों को अपने बाप दादाओं की कथा सुनाता है। बाप-दादाओं की कथा 'फिक्शन' वालों के लिए इसलिए खतरनाक

है क्योंकि वे भी न बाप-दादाओं की तरह काम और आराम की बात सोचना शुरू कर देंगे। 'फिक्शन' की दुनिया में न तो कोई काम है, न आराम है। यहां केवल मेहनत और मजदूरी है। आराम के नाम पर केवल 'हॉबी' है। निजी मनोरंजन, एकांत का एकाकी खेल।

'कहानी' का न कोई आदि है न अंत है। इसमें कोई चरित्र भी नहीं है, हीरो-हीरोइन की बात तो दीगर है।

कथा ज्ञान, कथा की दृष्टि इस पश्चिमी कहानी जगत और विचार से सर्वथा भिन्न है। कथा में समभाव है। कहानी में व्यक्ति है, 'इंडिविजुअल' मनुष्य नहीं, तभी कहानी की 'अपील' प्रभाव व्यक्तिगत है। इसके विपरीत कथा का प्रभाव, कथा का रिश्ता सामाजिक है। कहानी में आतंक है, कथा में वीरता, शौर्यभाव। कहानी स्वार्थ की लड़ाई है, जिसमें न्याय, अन्याय, उचित, अनुचित का विचार नहीं है। कथा सामाजिक न्याय, विवेक प्रतिष्ठा का पक्षधर है। कथा अन्याय, अनीति, अत्याचार के खिलाफ लड़ा गया संग्राम है, ताकि न्याय, नीति, आचरण, की पुनर्प्रतिष्ठा हो।

अपनी कथा में मनुष्य के सामने दो में से एक के वरण का प्रश्न खड़ा रहता है। इसी को विकल्प के सामने संकल्प कहा गया है। एक ओर प्रेयस है, दूसरी ओर श्रेयस। मृत्यु को छिपे हुए जीवन में अनंत प्रलोभन है। उन्हीं प्रलोभनों में फंसा हुआ कहानी का 'व्यक्ति' केवल प्रेयस के वरण के लिए विवश है, जैसे ओडियस, मैकबेथ आदि। पर कथा का मनुष्य नचिकेता, अर्जुन, जैसे जिज्ञासु, विवेकशील पात्र श्रेयस और प्रेयस का विवेक विचारपूर्वक कर दो में एक श्रेयस को चुनता है। श्रेयस में आदर्श पात्र के (नायक) दोनों गुण आ जाते हैं धीरता और वीरता।

अपने नाटक में कथा के बाद पात्र दूसरा तत्त्व है। पात्र नाटक में है, नाट्यशास्त्र में वह नायक (नेता) है, मतलब जो अपने चरित्ररूपी पात्र में भाव को रस (विश्वास) तक ले जाने में स्वयं तो सफल हो ही, साथ ही वह सबको वहां ले जाने में नेतृत्व कर सके। अर्थात् शास्त्र में विचार दृष्टि में जो नायक है, जीवन में, सृजन में कला भूमि पर वही पात्र है।

कथा (ड्रामा) के संदर्भ में पात्र विश्वास है, पर दर्शक के संदर्भ में अर्थात् अभिनेता अभिनय के संदर्भ में पात्र भरा है और दर्शक विश्वास है। इसके पीछे अपनी कला दृष्टि सहज है। बाहर से देखने में अलग लगता है कि नाटककार, अभिनेता और दर्शक — अर्थात् कथा पात्र और ग्राहक, मतलब मूर्तिकार, मिट्टी और मूर्ति को देखने वाला दर्शक — ये तीनों अलग-अलग हैं, लेकिन सृजन और सौंदर्य स्तर पर, समान लक्ष्य की ओर गतिशील होने के स्तर पर सबमें एकता और

अखण्ड है। अंतर्मन में एकान्त, भागदौड़ में अंतर्लीनता का बोध और अनुभव, यही तो अपनी कला और जीवन का परम लक्ष्य है और यही पुरुषार्थ है — दोनों स्तरों पर। इस पर काफी विचार किया है आनंद कुमार स्वामी ने। अर्थात् "कला में अन्यथाकरण अत्यंत आवश्यक है। अन्यथाकरण और कुछ नहीं है, एक डिस्टेंसिंग है, एक इतनी दूरी से देखना है जहां से संपूर्णता दीखती हो, केवल एक पक्ष, एक प्रोफाइल या फ्रेम न दिखता हो। जहां से अविच्छिन्नता दिखती हो, वहां से देखना अन्यथाकरण है। अतः जहां से नहीं देखा जा रहा है, तो जो वस्तु दिखती है, जिस रूप में दिखती है, वह ठीक नहीं है, वह विभ्रम है, अवास्तव है। उसका अन्यथाकरण करना चाहिए। अन्यथाकरण में जिसे सब्जेक्ट का – सोचने वाले, देखनेवाले का – तत्त्व कहते हैं वह नहीं है, बल्कि वस्तु के प्राकृतिक स्वभाव का तत्त्व है। वस्तु जैसी यथाभूत है, उस यथाभूत को पूरी तरह आत्मसात करने के लिए एक डिस्टेंसिंग, एक अन्यथाकरण आवश्यक है।"[11]

अपनी इस कला-दृष्टि से यदि हम कालिदास के प्रसिद्ध नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के मुख्य पात्र शकुन्तला को समझें, प्रस्तुत करने चलें तो हमें उसके चरित्र अर्थात् उसके मानवीकरण से आगे जाना होगा। क्योंकि नाटक शकुंतला एक सुंदर स्त्री मात्र नहीं है, वह एक स्त्री पात्र है। उस पात्र में जो आश्रम भूमि का विशेष तत्त्व है, जो जंगल की धूप है, जो पुष्पलता-वृक्ष, वायु की सिहरन है, हिरन शावकों का जो स्पर्श है, जननी विछोह है, प्रकृति का जो जीवन रस है, वह उस पात्र की प्रस्तुति में अभीष्ट है। इससे भी गहरे उस पात्र में जो यौवन रस है, आत्मीय स्मृति है, उसे भी तो व्यक्त होना है। नाट्य कला की शकुंतला पात्र तभी तो एक अविस्मरणीय रचना है।

धर्म की तरह कथा और पात्र एक आत्मसंभावनात्मक पदार्थ हैं। खासकर अपने यहां तो पात्र की कल्पना अपूर्व है। मुझे आभास होता है कि जिस विशेषता से कोई पदार्थ पात्र होता है, वह उसका दृश्य चरित्र या प्रत्यक्ष गुण या स्वभाव नहीं होती। क्योंकि दृश्य विशेषता तो वर्णन प्रत्यक्ष पर आश्रित होता है। उसके लिए सौंदर्य दृष्टि की आवश्यकता नहीं होती। जैसे प्राकृत पदार्थ धर्म नहीं, उसी तरह प्राकृत जन पात्र नहीं।

पात्र का नामकरण जिसकी विस्तृत चर्चा नाट्यशास्त्र आदि ग्रंथों में है, उनमें जो लक्षण और प्रमाण दिये गये हैं, उनके परखन और परिशोधन से यह लगता है कि वे पात्र के प्रति आश्वासन प्रस्तुत करते हैं। नायक के बारे में सर्वोपरि प्रमाण और लक्षण देते हुए भी पात्र विषय पर स्पष्ट निर्देश नहीं दे सके। नाटक की संरचना में पात्र निर्माण की कलात्मक समस्या में तो जैसे जूझा जा सकता है,

नाट्यशास्त्र के नायक संबंधी प्रमाण और लक्षण समाधान प्रस्तुत नहीं करते। मेरा विश्वास है, उसके लिए हर कृति नाटककार के अंतर्विवेक का आत्म-निर्देश ही एक मात्र आधार है। यह बात परिवर्तनशील रंग समाज और उसकी अपरिभाषित नाट्य स्थितियों में अधिक स्पष्टता से लागू होती है।

पात्र को अभिनय और अभिनेता के प्रसंग में देखना, जानना महत्वपूर्ण है।

भारतीय अभिनेता जो किसी पात्र की भूमिका कर रहा है वह उस पात्र के भीतर उसके चरित्र को देख रहा है। इस तरह भारतीय नाट्य में एक सार्थक यात्रा की ओर संकेत है, अर्थात 'जो है' (पात्र) से 'जो होना चाहिए' (चरित्र) तक की यात्रा को पुरुषार्थ माना गया है। तभी हमारी दृष्टि आदर्शवादी है। दूसरी ओर 'जो है' (चरित्र) उसी के भीतर उसके 'मैं' को ढूंढ़ना और तलाशना, यही है पश्चिम का ड्रामा और थियेटर। यही आज का अंतर्लीन निर्णायक ढूंढना है। 'है' यह प्रकृतिवादी दर्शन ढूंढ़ता है, हर समय कर्मरत रहता है। बोलता रहता है, वर्णन करता रहता है, यथार्थ स्थितियों का निरूपण करता रहता है कि क्या है? हमारे यहां का नाट्य 'है' से 'होना' के सत्य को लेकर खड़ा है। ठीक जैसी हमारी जीवन-दृष्टि है। जहां 'होने' की बात आती है, वहीं मूल्यों की बात आती है। आचार शास्त्र की अनिवार्यता मानी जाती है। "होने की बात के साथ 'मुझे' क्या होना है," यह भी जुड़ जाता है। यही है पात्र-सुपात्र को देखना और पाना।

हमारे यहां 'चेतना' और 'संज्ञा' इन दो बिंदुओं पर प्रेक्षा के प्रसंग में जैन आगमों में बहुत विचार किया गया है। दस संज्ञाएं मानी गयी हैं— आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा, परिग्रह संज्ञा, क्रोध संज्ञा, मान संज्ञा, माया संज्ञा, लोभ संज्ञा आदि। चेतना वहीं संभव है जहां कोई संज्ञा नहीं है।

दर्शन में चेतना को संज्ञातीत कहा गया है। संज्ञातीत चेतना का अर्थ विशुद्ध चेतना, केवल चेतना अर्थात देखना। जहां चेतना के साथ संज्ञा का मिश्रण होता है अर्थात् जो चेतना संज्ञा से प्रभावित होती है, वह चेतना संवेदनात्मक होती है। इससे देखना 'देखना' नहीं होता बल्कि देखना, संज्ञा से रंगा हुआ होता है। संज्ञाएं कुछ ऐसी होती हैं जैसे साफ पानी में कुछ कीचड़ मिल गया हो। चेतना शुद्ध है, उसमें यदि कोई संज्ञा जुड़ गयी है तो वह गंदला हो गया। इसीलिए हमारे रंगपीठ पर भोजन करना, मैथुन, भय, हत्या आदि संज्ञाएं वर्जित हैं।

गंदे पानी को साफ किया जा सकता है, उसके अनेक विधि-विधान हैं। मलिन चित्त, गंदली चेतना को फिर से शुद्ध किया जा सकता है, क्योंकि उसकी निर्मलता को मिटाया नहीं जा सकता। संस्कारवश या कार्य-कारणवश जो कुछ उसमें आ मिला है, उसमें घुल गया है, जो फिर निकाला जा सकता है, उसे पुनः शुद्ध किया जा सकता है। हमारा भारतीय नाट्य, संगीत और नृत्य हमारी रस-पद्धति, यहां तक कि हमारे लौकिक कर्मकांड, इसी उद्देश्य के प्रति लक्ष्यनिष्ठ हैं।

व्यावहारिक जगत में हम जो पात्र देखते हैं वह उसके स्थूल रूप को ही देखते हैं। इस देखने में जो हमारी स्थूल दृष्टि होती है, वह इस बात को भुलवा देती है कि जो कुछ जितना दिख रहा है वह उतना ही नहीं है, उसके भीतर भी बहुत कुछ है। स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना, स्थूल में सूक्ष्म को देखना, यही है भारतीय नाट्य। संस्कृत नाट्य अथवा भारतीय कलाओं में जो इतना पिष्टपेषण है, इतनी पुनरावृत्तियां हैं, इतना विस्तार है, उसका रहस्य यही है कि आप देखते चलें, देखते चलें, देखते चलें, देखते रहें। एक क्षण ऐसा आयेगा कि आप गहराई में उतर जायेंगे। इस अवगाहन में इतने नये-नये पर्याय उस वस्तु के सामने आ देंगे कि आप आश्चर्यचकित रह जायेंगे।

हमारे यहां बार-बार उन्हीं पुरानी कथाओं, पौराणिक पात्रों, लोककथाओं को नाटकों, महाकाव्यों की कथावस्तु बनाया जाता है। इसके पीछे मूल कारण यही है कि कथा, पात्र, चरित्र, रस, रागिनी, मुद्राएं, मूर्तियां आदि के एक बार के दर्शन से वे अनंत पर्याय हमारे सामने प्रकट नहीं हो सकते। उन्हें बार-बार देखना, सुनना, दरअसल उनकी गहराई और सूक्ष्मता में जाने का निमंत्रण है। जैसे-जैसे कोई दर्शक उन्हें देखता चला जायेगा, वे अनंत पर्याय एक-एक कर उद्घाटित होते चले जायेंगे। जिस वस्तु को हम इतनी बार देखते और सुनते चले आ रहे हैं, वह किसी दिन हमारे लिए स्वभावतः कुछ और हो जायेगी। अर्थात् वह सत्य के उद्घाटन का माध्यम बन जायेगी। इस अर्थ में कथा और पात्र को देखना केवल देखना ही नहीं है। इसका एक परिणाम भी है।

अब हम पात्र को दर्शक (ग्राहक) के प्रसंग में देखें। मनोवैज्ञानिक रूप से देखना का अर्थ अपने से बाहर आना। देखना सामने जो दृश्य है उसकी गति में गतिशील होना और उस पूरी प्रक्रिया के प्रति सजग हो जाना। हमारे यहां जिस अभिनय की कल्पना है, उसका आधार यही देखना और दिखाना है। दुष्यंत की भूमिका करने वाला अभिनेता ऐसा कभी आभास नहीं देता कि वह स्वयं दुष्यंत है। वह सदा हर क्षण यही प्रतीति देता कि वह अभिनेता है और दुष्यंत का अभिनय कर रहा है। अगर अभिनेता स्वयं दुष्यंत हो जाने का भ्रम पैदा कर दे, जैसा कि पश्चिम का अभिनय सिद्धांत है, तो दर्शक संशय और भ्रम का शिकार हो जायेगा। वह देखने की जगह सोचेगा, वह कभी देख नहीं सकेगा, और जो देखेगा उसका सोचना खत्म हो जायेगा। सोचना मन का काम है। देखना एकाग्र संपूर्ण मनुष्य का काम है। इसीलिए हमारे यहां नाट्य, संगीत, मूर्ति, स्थापत्य, सारी कलाओं में पहले इसी का पूरा प्रयास और प्रयत्न है कि दर्शक का मन भरे। मन को हमारे यहां मल कहा गया है, तभी बार-बार यह कहा गया है कि जो निर्मल नहीं है वह

दर्शक नहीं हो सकता।

जैन और बौद्ध साधना पद्धति में प्रेक्षा को ध्यान की संज्ञा दी गयी है। ध्यान वहीं संभव है जहां मन पर विजय प्राप्त कर लिया गया है। 'मन के जीते जीत' यह कितना प्रसिद्ध और गहरा मुहावरा है। शास्त्रीय नाट्य और लोक नाट्य प्रस्तुतिकरणों और प्रदर्शनों में जो इतना पूर्व रंग, पूजा, पाठ का विधान है वह दरअसल मन को काटकर उससे परे जाने की दिशा में एक सार्थक किया है, व्यापक में दर्शक हो जाना।

देखने (दर्शन) में जो शक्ति है वह विचार में नहीं है। विचार की पहुंच बहुत सीमित है। विचार की इसी सीमा को तोड़ने के लिए हमारे यहां देखने (दर्शन) पर इतना अधिक बल है। हमारे विचारों का प्रवाह बंद हो इसीलिए साधारण मनुष्य नशे का सहारा लेते हैं, लेकिन जो उन्नत मनुष्य है वह विचारों के प्रवाह को रोकने के लिए कोई सुंदर अनुभव तथा गहरी अनुभूतियों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

प्रायः हम लोग यह प्रश्न करेंगे कि क्या देखें और क्यों देखें, उस प्रस्तुतिकरण को कैसे देखें तथा अगर देखना इतना कठिन है तो देखें क्यों?

जो पात्र सामने आये उसे देखो। जहां देखना है वहां यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता कि किसको देखना है और किसको नहीं देखना है। इस संदर्भ में हम सबसे पहले आकार को देखते हैं, शरीर को देखते हैं, पदार्थ को देखते हैं। यह हम देखते नहीं बल्कि प्राकृतिक रूप से हमारी देखने वाली इंद्रिय, आंख, स्वयं उसे देखने लगती है। उसमें देखने वाला (दर्शक) अनुपस्थित रहता है। कोई देखने वाला हो इसके लिए उसका कर्ता रूप प्राप्त करना अनिवार्य होता है। इस कर्ता की बुनियाद यह है कि पात्र को, रंग को देखने वाला तभी दर्शक हो सकता है जब वह अपनी निद्रा, मूर्छा (पूर्व संस्कार) के प्रति पूर्ण सजग हो।

हर पात्र, हर दृश्य के दो रूप होते हैं, बाहरी और भीतरी। देखना संपूर्ण वृक्ष से लेकर किसी फल को देखना है, इस सजगता के साथ कि फल का छिलका होना है क्योंकि उसके भीतर रस है। जहां रस होता है, वहां छिलका होता ही है। इस छिलके को देखें और रस को भी देखें, यही है पात्र का, रंग का प्रेक्षक होना। यही है भारतीय अभिनय।

हमारे नाट्य में, विशेषकर अभिनय पक्ष में आंगिक अभिनय पर, अर्थात् हमारे शरीर पर क्यों इतना अधिक बल है? इसीलिए कि पात्र में वह परम दृश्यमान है। इसके पीछे गहरा कारण यह है कि हमारा शरीर शक्तियों की अभिव्यक्ति का सबसे शक्तिशाली माध्यम है। कला की दृष्टि से शरीर जितना सारभूत है, उतना सारभूत हमारे लिए कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। इतनी संपूर्ण मूर्त वस्तु और कुछ नहीं है। सौंदर्य की, ईश्वर की या किसी भी शक्ति की अभिव्यक्ति कोई कर

सकता है तो वह शरीर ही धार सकता है।

पात्र के संदर्भ में आंगिक अभिनय का अर्थ है, उसके अंग को साधना। यह साधना भी इस विश्वास पर खड़ी है कि शरीर के अंग-प्रत्यंग और उपांगों में अपने अलग-अलग चैतन्य केंद्र हैं। इन केंद्रों में अभिनय द्वारा विभिन्न भावों और शक्तियों का अवतरण होता है। भारतीय अभिनय इन्हीं नृत्यगत गतियों, मुद्राओं, वर्ण, अंगहार और रेचक से भरा है, इसके पीछे शरीर साधना का ही अर्थ है।

शरीर साधना अथवा आंगिक अभिनय का अर्थ है पात्र अभिनय के लिए अपने सोये हुए शक्ति केंद्रों को जगाना, सक्रिय बनाना और उन्हें गतिशील करना।

अपने नाट्य में जो इतना रूपांतरण पर बल है, पात्र के अभिनय में जो इस 'बाहर अवतरण' का इतना महत्त्व है, उसके पीछे अवतार का ही संकेत है। सारा भारतीय चैतन्य इसी एक ओर इशारा करता है कि अपने आप से बाहर निकलो। व्यावहारिक रूप में अपने आप से बाहर कैसे निकला जा सकता है? एक ही उपाय है, आत्मविश्वास। उदाहरण के लिए, बीज में से बीज बाहर कैसे निकलता है? जाहिर है पौधों के रूप में विकास करके। विकास के साथ गति का गहरा योग है। अपने आप से बाहर निकलना (अवतरण) आत्म-विकास करना, हर क्षण गतिमान रहना। इन तीनों स्थितियों की एकात्मक स्थिति का नाम है, रूप में परिणत हो जाना। रूप मायने जो दृश्य है, रूप माने जो अदृश्य भी है। रूप मायने जो हर क्षण विकासित और गतिमान है।

आंगिक रूपकरण में संदर्भ संभाषण व्यापार के साथ मौन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। पूरा रूप तभी प्रकट होगा जब भाषा का व्यापार कम होगा। ऐसा हमारे पुरखों ने तरह-तरह से कहा है। भाषा का, शब्द का पहला कदम है चंचलता उत्पन्न करना। जब मनके होता है; तभी चंचलता अर्थात् शब्द पैदा होते हैं। बोलने से पहले चंचलता और बोलने के बाद चंचलता। बोलने का अर्थ है, पहले अपने आपको निश्चल करो, फिर बोलो। इस रहस्य से भारतीय अभिनेता पूरी तरह परिचित था। वाचिक अभिनय से पूर्व का अभिनय और बाद का अभिनय उसी चंचलता को रूप देने का सार्थक प्रयत्न है।

मौन का एक और भी संकेत है, अनिर्वचनीयता। मतलब है कि रूप को, दृश्य को, देखो, उसकी अनिर्वचनीयता में उतरो, बोलो नहीं। मौन रहना अर्थात् मूक अभिनय, रूप और सौंदर्य की सुरक्षा का शाश्वत और प्रबल साधन है। पात्र का वास्तविक रूप अर्थात् स्वरूप मौन है। मौन ही रूप है। उत्तररामचरित की सीता, सारनाथ के बुद्ध, अजंता के पद्मपाणि, सभी पात्रता के मौन रूप हैं।

ऐसे पात्र और ऐसे रूप को देखना बिना ज्ञान के संभव नहीं है। देखना मायने

जानना। जानना यानी देखना। देखना यानी जानना। देखना और जानना दोनों समानांतर हैं। बिना जाने हम देख नहीं सकते, बिना देखे हम जान नहीं सकते। नाटक 'देखने' का सबसे बड़ा 'जानना' यह है कि बिना जाने हम 'रूप' से 'रूपांतरित' नहीं हो सकते। रूप से रूपांतरित होना, अपने आप से बाहर निकलना, यही है रूपांतरित होना। देखने और जानने के अलावा हमारे पास कोई दूसरा उपाय नहीं है कि हम बदल जायें, रूपान्तरित हो जायें।

नाटक में कथा, पात्र के प्रस्तुतिकरण का पक्ष अभिन्न है। प्रस्तुति के मायने हैं कि किसी पात्र का बार-बार दर्शन। हम एक पदार्थ को जितनी बार देखेंगे, उतना ही उसके बारे में अधिक जानेंगे। 'जानना' कोई जड़ तथ्य नहीं है कि एक बार जान लिया, बस जान लिया। जानना एक सतत जीवन प्रक्रिया है जिसका अभ्यास करते रहना आवश्यक है।

आजकल लोग कहते हैं कि क्या उसी कथा और पात्र को बार-बार देखना? देखने का दोहराना मानते हैं। दोहराना ही उनको सबसे बड़ी ऊब है। पर वे लोग यह नहीं जानते कि हम स्वयं को दोहराते जा रहे हैं। हम स्वयं को देखने वाले भी हैं और हम स्वयं को देखने में भाग भी रहे हैं। हमारे नाट्य में पूजि, उपासना, स्थापत्य कला, संगीत, नृत्य में जो इतना दोहराया जाता है, उसका यही सार्थक संकेत है कि स्वयं अपने पात्र को देखो। देखकर जो आनन्द होता है, वह है विश्वास।

राम ने वाल्मीकि से पूछा कि मैं कहां रहूं तो वाल्मीकि ने हंसकर कहा -- कोई जगह बताओ तो सही जहां तुम नहीं हो। फिर भी तुम मुझसे कहलवाना चाहते हो तो मैं कहूंगा "जिनके श्रवण समुद्र समाना, कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना। भरहिं निरंतर होहिं न पूरे, तिनके हिय तुम्हार गृह रूरे।" कहने को बहुत-सी जगह, बहुत से बिम्ब हैं, लेकिन सबसे सूक्ष्म बिम्ब है शब्द-बिम्ब, श्रवण भरोसे की जगह है शब्द में गूंथी कथा। जिनके कान के समुद्र में तुम्हारी कथा की असंख्य सरिताएं आवें और भरती रहें समुद्र न पूरा हो। समुद्र चाहे कि नयी सरिता कोई और आये, एक कथा कोई और बीच में हो जाये, एक कथा जोड़ो और मंडित हो जाय, राम का एक नया चरित्र और उन्मीलित हो जाय, राम के प्रेम का एक नया स्वरूप और अवतरित हो जाय "भरहिं निरंतर होहिं न पूरे" ऐसे आदमी के हृदय में तुम्हारा निवास हो, जहां तुम्हें सुनने के लिए, तुम्हारी कथा के लिए, तुम्हारी प्रक्रिया के रूप में प्रतीक्षा

होने के लिए, तुम्हारे अस्तित्व के कण-कण के रूप में रूपांतरित होने के लिए निरंतर आकांक्षा रहे, अतृप्त लालसा बनी रहे, वहीं तुम्हारा घर है, आवास। संतोष हो गया, जहां तृप्ति हो गयी, वहां तुम्हारा निवास नहीं है।

इसीलिए तुलसीदास ने आगे कहा है, 'राम कथा के सुनत अघाहीं, रस विशेष ते जाना नाहीं।' कथा में जो श्रद्धातत्व है, वही है उसका रस विशेष। इस रस विशेष में खोना या डूबना जो आत्मानुभूति होती है वही है विश्वास।

संदर्भ

1. [illegible]—[illegible]
2. 'श्रद्धा विश्वास'— [illegible] (…)
3. [illegible] भारतीय [illegible] पृष्ठ 48
4. [illegible] की कहानी
5. [illegible], पृ 8[illegible]
6. भारतीय कला दृष्टि – कुमारस्वामी [illegible], पृष्ठ 43
7. [illegible] हुआ है तब से, [illegible] जिन तीन [illegible] वर्तमान समय में [illegible] किया है। [illegible] किया है।

अभिनय

ड्रामा में 'एक्ट' है भाव नहीं, तभी अंक नहीं। भाव नहीं, तभी पात्र नहीं, चरित्र। चरित्र माने कार्यकर्ता। चरित्र है तभी ड्रामा 'एक्शन' में सुनियोजित है। फलतः एक्ट से ही 'एक्शन' होता है। स्वभावतः जो 'एक्शन' करने वाला होता है – वही 'एक्टर' है। पर ठीक इसके विपरीत भारतीय रूपक, नाटक में अंक है। अंक में पात्र है। पात्र में भाव है, सो पात्र अंक में है। अंक में संभाल कर अभिनेता (एक्टर नहीं) 'कुछ' ले जा रहा है, जाते हुए दर्शकों को भी वह अपने साथ ले जा रहा है। वह किसी विशेष दिशा, लक्ष्य और फल प्राप्ति की ओर ले जा रहा है। तभी तो वह है अभिनेता।

संस्कृत के अभिनेता शब्द में अभि उपसर्ग है, जिसका अर्थ है– किसी विशेष दिशा की ओर, नय का मतलब है – ले जाना, अर्थात् जो अपनी कला से दर्शकों को, नाटक और स्वयं को किसी विशेष दिशा में ले जाय, उस कला का नाम अभिनय है। और उस कला का कलाकार अभिनेता है।

अपनी अलग दृष्टि-अनुसार पश्चिम का ड्रामा 'एक्शन' से भरा हुआ है। हर वक्त काम, क्रिया व्यापार, अपने कार्यों से वह यहाँ और अभी जीवन का सारा कुछ प्राप्त कर लेना और भोग लेना चाहता है। उसके लिए फल-प्राप्ति नहीं है, क्योंकि उसका अटूट विश्वास बल्कि अहंकार है कि फल तो उसे प्राप्त होकर ही रहेगा। इसलिए उसके कार्यों के पीछे असली प्रेरणा यह है कि हर चीज के विषय में, चाहे वह संबंध हो या अस्तित्व प्रश्न हो, कोई खोज हो, चाहे कोई किसी तरह की लड़ाई हो, इन सबके बारे में वह अपने प्रयोगों द्वारा सारा ज्ञान यहीं, अभी इसी वक्त चाहे उसे प्राप्त कर लेना चाहता है। न उसे अदृश्य पर विश्वास है, न उसे किसी तरह का कोई संकोच है। वह सब कुछ अपने इसी जीवन में ही देख और जान लेना चाहता है। इसीलिए ड्रामा के एक्टर में और स्वयं ड्रामा के चरित्रों में इतना अधिक कार्य-व्यापार भरा पड़ा है। वह स्वगत कथन भी करता है तो ध्यान

लगाकर चुप नहीं बल्कि उसका, 'सोचना' और 'करना' तथा 'कहना' यह सब कुछ उसके द्वारा किये गये कार्य-व्यापारों के योग से ही होता है।[1]

भारत के रूपक-नाटक-नाट्य-अभिनय की मुख्य चिंता यह है कि भाव कहां है? 'भाव' एक कैसे आता, अभिप्राय यह है कि अभिनेता और दर्शक दोनों एक ही उत्साह में हैं कि रस कहां है। रस के बारे में एक विचित्र भाव यह है कि हर कोई अपने जीवन में रस चाहता है। चाहता इसीलिए है किसी को पता नहीं है कि रस क्या है, और कहां है, सभी तब रस-प्राप्ति के प्रयत्न में लगे हुए हैं। सभी को रस की प्यास है, सभी रस के लोभ में चंचल हैं। इसका कारण यह है कि भारतीय चिंतन के अनुसार रस ही सार है, रस ही सत्य है।

भाव, चित्त और रस तक की जो यात्रा अभिप्रेत है, वही अभिनय की आत्मा और स्वरूप है।

"अनन्त जन्मों एवं परिस्थितियों में संचित, अनगिनत संस्कारों तथा वासनाओं का आगार ही चित्त है। वह चित्त एक महान ह्रद के सदृश सात्विक, राजस तथा तामस संस्कारों एवं वासनाओं की तदनुरूप वृत्तियों ऊर्मियों से आंदोलित होता रहता है। चित्त के विविध वृत्ति-व्यापार या चतुर्मुखी चांचल्य को समग्ररूप से प्रतीति का विषय बनाने के लिए मन की सृष्टि की गयी है। चित्त मन का जनक है। चित्त की भूमिका पर मन का क्रीड़ा-कौतुक प्रतीत होता है। चित्तलोक में भरे हुए विविध वासना-बीज ही स्वभावतः मन को गति प्रदान करते हैं।

मन की सम्पूर्ण गतिशीलता के दो पक्ष हैं। एक में 'अ' से लेकर 'ह' तक सम्पूर्ण ध्वन्यात्मक मूक वर्ण कार्य करते हैं, दूसरी ओर रूपात्मक या चित्राकार नीलिमा-शाश्वत वर्ण! भाव-स्फुरण या आच्छादनशील।। दोनों में ही विद्यमान रहती है। वर्ण का यह द्विधात्व वस्तु-सत्य के लिए हिरण्मय आवरण है, जिसके छाया-सौंदर्य पर मुग्ध होकर पुरुष, सत्य की खोज के महान उद्देश्य को भूलकर उसी में उलझा रहता है।

मन की प्रथम पर्यालोचना जब किसी श्रेष्ठ या आकृत विषय पर स्थिर हो जाती है तो वहीं मति का उदय होता है। मन की विचारमयी धारा का प्रशस्त प्रवाहमान या भावना ही मति है, दूसरी ओर चित्त-पट पर मन की रूप रचना स्मृति। विचार का क्षणिक ठहराव मति को जन्म देता है और आकार का चंचल अवसान स्मृति को। मन के नाम और रूपात्मक रूपों की क्षणिक परिणति क्रमशः मति और स्मृति के नाम से अभिहित की जानी चाहिए। मति और स्मृति का समाहार बुद्धि में होता है और बुद्धि के उत्तरोत्तर उन्नत रूप हैं — प्रज्ञा, मेधा और प्रतिभा।"[2]

रूप, रंग, ध्वनि, गंध, स्पर्श, तथा शब्द आदि विषयों और बुद्धि से आगे भाव है। जो भाव है, वहीं रस है। अभिनय-प्रदर्शन में दर्शक के हृदय का भाव अन-

मंच होने पर अपनी वृत्ति अनुसार अपनी शक्ति के रूप में परिणत हो जाता है। अभिनय के साथ व्यक्ति या प्रस्तुत दृश्य और अपनी अनुभूतिगम्य आत्मसत्ता दोनों के संयोग से जो अनिर्वचनीय तत्त्व रंग-भूमि में जन्म पाता है, उसी को अपने नाट्य शास्त्र में 'अभिनयात्मिका वृत्ति' की संज्ञा दी गयी है, अर्थात् अभिनय-प्रस्तुति से मात्र, अनुभूति बनकर भावना फिर महाभाव की दशा पर पहुंचती है। वहां अवस्था निर्विकल्प होकर रस-अवस्था को प्राप्त हो जाती है। और सविकल्प दशा में यही महाभाव है। "महाभाव का आस्वादन से वेद्यांतर-स्पर्श शून्य प्रगाढ़ तादात्म्य ही भावसमाधि है। इस स्थिति को परमाह्लादमय महाकाम और कामेश्वरी के सामरस्य के नाम से कहा जाता है। अपनी शक्ति से सम्बद्ध, समष्टि मन का सार सौंदर्य अमृतरसमय 'महाकाम' ही कवि और काव्य का शाश्वततत्त्व है।"

महाकाम का लोक, अंतःकरण, चेतना, हृदय अर्थात् भाव का है। किंतु प्रश्न यह है कि जिसका भी आस्वादन नहीं हो रहा, उसके लिए इतनी आकांक्षा क्यों है? यह सत्य है कि कभी इसका आस्वादन अवश्य हुआ है। निश्चय ही एक दिन ऐसा लगता है कि यह सारा संसार उस रसपान से मतवाला होकर आत्मविस्मृत हुआ था, पीछे नियति की प्रेरणा से उस अवस्था से च्युत हो गया है। 'ड्रामा' के पीछे का मनुष्य स्वर्ग से जमीन पर गिरा हुआ व्यक्ति है। उस पतन के खिलाफ 'ड्रामा' में एक भयंकर आक्रोश और प्रतिक्रिया है, जिसका प्रतिफलन 'एगनी' और 'पेन्टर' है।

हमारे यहां रसपान से आत्मविस्मृत होकर च्युत होने का संकेत है। इसका अर्थ यह हुआ कि "योग से भ्रष्ट होकर संसार आज उसी की पुनः प्राप्ति की आशा से खोयी मणि वाले सर्प के समान व्याकुल हुआ-सा भाग रहा है। जब तक फिर उस योग की स्थापना नहीं होगी तब तक इस अशांति के हटने की संभावना नहीं।"

जीवन के स्तर पर जिस रस का हमने अनुभव किया है, वह परिच्छिन्न, एकदेशीय खंडित और मलिन है, किंतु जिस रस को चाहते हैं वह इसके विपरीत है, जिसे पूर्ण आनंद, पूर्ण सौंदर्य और पूर्ण प्रेम की संज्ञा दी गयी है। प्रश्न यह है कि इसका जब कभी आस्वादन हमने नहीं किया तो इसके लिए तृष्णा जागी कैसे? जिस परम सौंदर्य ने पीछे रहकर तृष्णा को जगाया है, उसी को फिर सामने उपलब्ध किए बिना वह आस्वादन होगा कैसे?

इस आस्वादन के बारे में हमारे आगम, निगम और कला शास्त्रों में यह बात विविध संकेतों में कही गयी है कि इस रस का जब हमें आस्वादन हुआ था, तब काल नहीं था, जहां हमने इसका आस्वादन किया था, वहां देश नहीं था, वह हमारी 'योग' अवस्था अथवा मिलन का क्षण था। उसके बाद हमारी वर्तमान अवस्था 'वियोग क्षण' अथवा विरह की है। फिर उस 'प्रयोग' में जाने के लिए हम छटपटा रहे हैं।

पुनर्मिलन चाहते हैं, अर्थात् हम जिस देश और काल से निर्वासित हुए हैं, फिर उसी देश-काल को छिन्न-भिन्न कर, विलीन कर वैसे ही लोग 'पूर्ण' होना चाहते हैं, अर्थात् मिलन चाहते हैं।

श्रेष्ठ काव्य, नाटक अथवा संगीत इसी वियोग का अनुभव देकर संयोग के रस का आस्वादन देता है। भारतीय नाट्य के जो श्रेष्ठ उदाहरण हैं, उसका आधार यही भाव है। भरत नाट्य शास्त्र में अभिनय और भाव के ऊपर जो इतना प्रकाश डाला गया है, उसके पीछे नाटक के माध्यम से यही रसास्वादन कराना परम लक्ष्य है, जो किसी भी अभिनेता के लिए बहुत कठिन चुनौती है। 'अभिज्ञान शाकुंतलम्,' 'विक्रमोर्वशीयम्,' 'उत्तर रामचरितम्' नाटकों में वाचिक अंश और अभिनय अंश, इन दोनों में इतनी गहन स्थितियां इसीलिए रखी गयीं कि अभिनय के धरातल पर उन्हें प्रस्तुत कर दर्शक और श्रोता समुदाय को वर्तमान देश-काल से ऊपर उठा देश कालातीत करने का कलात्मक उद्यम किया जा सके।

नाट्य शास्त्र में स्वयं भरत ने अभिनय का विवेचन बड़े विस्तार से किया है। आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक, ये चारों प्रकार की अभिनय प्रक्रियाएं नाट्य में हैं। आंगिक अभिनय में एक-एक शारीरिक अंग-उपांग के तमाम अभिनय बताये गये हैं। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा कि नयन और दृष्टि से छत्तीस प्रकार के अभिनय होते हैं, जिसमें से आठ रसों की, आठ स्थायी भावों की, बीस संचारी भावों की दृष्टियां होती हैं। आंख, पलक, भौंह, नाक, कपोल, अधर, चिबुक, मुख, ग्रीवा, हस्त, विविध मुद्राएं, जैसे असंयुत मुद्रा सम्पुट, मुद्रा, त्रिपताक, विप्रकीर्ण, विमुख, चतुर्मुख, पंचमुख, दण्ड व्यापकांजलि, यमपाश, ग्रथित तथा धेनु, ज्ञान, वैराग्य, पद और उनकी संधि, ग्रंथ, लिंग और निर्वाण आदि अभिनय तत्वों का समावेश होता है। इसी प्रकार वाचिक, सात्विक, आहार्य में भी कितना विस्तार है, उसे देखकर आज हम आश्चर्यचकित रह जाते हैं।

अभिनय अपनी क्रिया में कितना व्यापक है, नाट्यशास्त्र के अभिनय अध्याय को पढ़कर हमें इसका अनुमान हो जाता है। केवल हस्त अभिनय में कितनी महत्त्व मुद्राएं नाट्यशास्त्र में दी गयी हैं, उसको पढ़कर हम विस्मय में पड़ जाते हैं। इसके अलावा भारतीय अभिनय के 'चारि', 'मण्डल', 'भ्रमरी', 'उत्प्लव', 'स्थानक' (खड़े होने का ढंग), 'मण्डल' और 'गति,' 'करण,' 'अंगहार,' और 'रेचक' के अर्थ, प्रयोग और उनके विस्तारों को देखकर भास, कालिदास, शूद्रक आदि के नाटकों में व्याप्त अभिनय तत्व से बुद्धि-हृदय अभिभूत हो जाता है। इसी तरह वाचिक अभिनय के अन्तर्गत पाठ्य की छह बातें, स्वर, स्थान, वर्ण, काकु, अलंकार और अंग, आती हैं। इसके अतिरिक्त पाठ्य के भी छह अंग माने गये हैं, विच्छेद, अर्पण, विसर्ग, अनुबंध, दीपन, और प्रशमन। इन अंगों का प्रयोग विभिन्न नाटकों में, विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार अलग-अलग होता है।

इस सम्पूर्ण अभिनय विधान को ध्यान में रखकर अब हम उस काल के अभिनेता के बारे में सोचते हैं, तो दो बातें स्पष्ट दिखायी देती हैं। पहली अभिनेता चूँकि किसी पात्र की भूमिका प्रस्तुत करता है और अपने अभिनय के साथ वह दर्शक समाज को देश-काल से परे ले जाना चाहता है, इसलिए उसकी अभिनय कला में शरीर के विभिन्न अवयवों से कहीं ले जाने का अधिक प्रयास होता है। दूसरी बात, अभिनेता अपनी अभिनय कला से बराबर यह स्थापित करना चाहता है कि अभिनेता दुष्यंत नहीं है, बल्कि दुष्यन्त का अभिनय कर रहा है। इन दोनों बातों के पीछे जो सत्य है वह वस्तुतः भारतीय जीवन दृष्टि है, जिसे हमारे पुरखों ने लीला, प्रतिमा या कविता कहा है। इस अभिनय में चूँकि किसी पात्र का अभिनय, अभिनेता कर रहा है और जितने दर्शक उसे देख रहे हैं, वे भी अपने-अपने प्रतिभा-पात्र हैं। इन दोनों प्रकार के पात्रों में रस भरना, यही भारतीय जीवन, नाट्य, अभिनय का अभीष्ट है।

इस अभिनय में कार्य-व्यापार, संघर्ष और भाग-दौड़ नहीं है। चूँकि वियोग से 'योग' की पुनर्प्रतिष्ठा के लिए ही नाट्य अभिनय हो रहा है— इसलिए यहाँ अभिनेता स्वभावतः 'कार्यकर्ता' नहीं है, वह कलाकार, भावक और योगी है। वह जब अभिनय करता है तो हर स्थिति और अवस्था को भाव के धरातल पर उसी तरह अभिनीत करता है जैसे गायक, वादक, नर्तक या कोई वास्तुशिल्पी कर रहा हो। इसके उदाहरणों से सारा संस्कृत साहित्य भरा हुआ है। विक्रमोर्वशीयम् नाटक के चतुर्थ अंक में पुरुरवा से उर्वशी बिछुड़ जाती है। बिछुड़कर जंगल में एक लता हो जाती है। वह लता पुरुरवा के बिल्कुल समीप है। किन्तु विरही पुरुरवा अपने ध्यान में उस लता तक जाने में, लता को स्पर्श कर उसे पुनः उर्वशी के रूप में पाने में इतना लम्बा समय व्यतीत करता है कि उसके अभिनय में किसी अभिनेता को डेढ़ घंटे से कम समय नहीं लगेगा।

भारतीय अभिनेता स्वभावतः पात्र की प्रतिष्ठा करता है। वह पात्र की अवस्थाओं को क्रमबद्ध ढंग से दिखाता है। उन अवस्थाओं के भीतर से भाव को रस की भूमिका तक ले जाता है, अर्थात् पात्र को रस में भरता है, अर्थात् वियोग से चलकर संयोग तक पहुँचाता है। भारतीय अभिनेता सहृदय है जो बोलकर भी हर शब्द, हर स्थिति, हर भाव मुद्रा का अभिनय करता है। वह हमें हमारे वर्तमान देश-काल से अपनी कला द्वारा इसके 'परे' ले जाता है।

अभिनय और क्रिया-व्यापार के रहस्य को हम और समझ लें।

आधुनिक (पाश्चात्य) विद्वान कहते हैं कि संस्कृत नाटक में कार्य-व्यापार का अभाव है। प्रश्न यह है कि हम जो कार्य करते हैं, उसके पीछे प्रेरणा क्या है? हम जो कुछ भी करते हैं, उसके पीछे कोई-न-कोई अभाव होता है। अभाव के भीतर

से ही हमारे सारे आचरण, कार्य व्यापार, चेष्टाएं, प्रयत्न निकलते हैं। एक तरह से कहें तो कह सकते हैं कि अभाव का स्वभाव है 'विभाव' जिसे अंग्रेजी में 'एक्टीविटी' कहते हैं और गहराई में देखें तो हम देखेंगे कि जो कुछ भी हम करते हैं उसके द्वारा दरअसल अपने आपको ही ढूंढ़ते हैं। पर जो 'है' उसमें अपने आपको ढूंढ़ना, अभाव को भाव में बदलने का प्रयास है।

अभाव क्या है? अभाव यही है कि हम अपने 'स्वभाव' को नहीं जानते। उदाहरण के लिए पैर हिलाना, शारीर-भाषा में 'विभाव' है। इसी तरह तमाम अध्यवसाय सब विभाव है। प्रश्न यह है कि इन सारे विभावों के पीछे वह मूल ऊर्जा क्या है, कहां है, जिसके कारण सारे विभाव हो रहे हैं? जहां द्वैत है, आदि से अंत तक द्वैत है (पश्चिम, आधुनिक) वहां केवल क्रिया-व्यापार ही व्यापार है। किंतु जहां द्वैत नहीं, (द्वैत केवल अज्ञान के कारण है) वहां क्रिया व्यापार की उतनी स्थितियां नहीं होंगी क्योंकि वहां सारी यात्रा द्वैत से अद्वैत की ओर हो रही है, अज्ञान से ज्ञान की ओर, स्वार्थ से परमार्थ की ओर, बीज-कर्म से फल की ओर हो रही है। इसी तरह हमारे कर्म में चाहे वह किसी स्तर का हो, चाहे अभिनय स्तर का हो, इसमें परस्पर भावन अनुभावन का तत्त्व प्रमुख है।

यह जानकर आश्चर्यचकित नहीं होना चाहिए कि पतंजलि, भर्तृहरि ने बताया है कि काल के साथ सीमित-सा प्रतीत होने वाला रूप 'अनित' द्वारा क्रिया के रूप में ज्ञात होता है। पर वही रूप भारी और में कालहीन-सा लगता 'भाव' कहलाता है।[11] पाणिनि, पतंजलि और भर्तृहरि इन तीनों ने यह बताया है कि क्रिया, कर्म, जिनका मूल संबंध 'कृ' धातु से है, उस धातु का अर्थ ही भाव होता है। भाव में ही क्रिया छिपी रहती है। सब कुछ मिट जाने पर भी केवल भाव विद्यमान रहता है। हमारे नाटककार, अभिनेता, 'क्रिया-व्यापार' को इसी भाव के रूप में लेते रहे हैं। भारतीय अभिनय को समझने का रहस्य इसी शब्द में छिपा हुआ है।

पश्चिम के ड्रामा के 'कैरेक्टर' का 'एक्टिंग' की वास्तविकता इससे बिल्कुल अलग है। 'एक्टिंग' की बुनियाद 'एक्शन' है। 'एक्शन' क्या है, इण्डो-यूरोपीय भाषा संस्कार में एक्शन 'एगोन' शब्द से निकला है। जिससे 'एगोनी' शब्द निकलता है। लैटिन भाषा में 'एगोन' विशिष्ट अर्थ में इस्तेमाल हुआ है। 'एगोन' उस पादरी (प्रीस्ट) को कहते हैं, जो बलि-पूजा में जानवर की बलि चढ़ाता है। यहूदी धर्म में, चाहे वह प्राचीन भारत हो या पश्चिम, हर कर्म एक बलिदान है। ईसाई धर्म में खासकर प्राचीन ईसाई धर्म में मध्य युग तक 'एक्शन' के बारे में जो धार्मिक सिद्धांत हैं उन्हें जान लेना एक सार्थक अनुभव प्राप्त करने की दिशा में प्रयत्न है। यहां 'एक्शन' को बलिदान के ही रूप में लिया गया है।

पहला बलिदान अपने व्यक्तित्व का है, वह व्यक्तित्व जो 'मैं' (इगो) में व्यक्त होता है। दूसरा 'एक्शन' प्रभु (या ईसा) के प्रति विनय, समर्पण के भाव को लेकर

होता है।

तीसरा, कर्म में अपने पापों के प्रति प्रायश्चित्त का भाव है।

चौथा, व्रत और उपवास है।

पांचवां, हर वस्तु और कर्म को मनुष्य और ईश्वर के सनातन संबंधों के भीतर से अनुभूत करना है।

छठा, लोभ, इन्द्रिय सुख आदि से अपने को पवित्र रखना है।

सातवां, शांति और अहिंसा का जीवन जीना है।

क्रिया के प्रति ईसाई धर्म के ये विचार पश्चिम के अध्यात्म में सदा सुरक्षित रहे हैं। परन्तु आधुनिक 'ड्रामा' में क्रिया के प्रति ये सारे धार्मिक विश्वास कहीं नहीं रह गये हैं। उनके यहां धार्मिक नाटक एक विशेष प्रकार बनकर अलग-थलग पड़ा हुआ है।

भारतवर्ष में, विशेषकर हमारे प्राचीन नाट्य में, नाट्य रचना से लेकर अभिनय, प्रस्तुतिकरण, नाट्य-गृह, दर्शक समाज इन सारे धरातलों में सर्वत्र हमारा धर्म, हमारा अध्यात्म, हमारा सौंदर्यबोध बल्कि हमारा कर्मकांड और हमारी परंपराएं, सब कुछ हमारे जीवन, कार्य-व्यापार के साथ ही प्रकट होता है। धार्मिक नाटक जैसा कोई भी प्रकार अलग से हमारे यहां नहीं है। मध्ययुग में अवश्य धार्मिक नाटकों का एक अलग प्रकार मिलने लगता है, किंतु उसमें भी यथार्थ जीवन का आधार और हस्तक्षेप कम नहीं है।

रंगभूमि के संदर्भ में अभिनय और अभिनेता के स्तर से कौन सा धर्म रंग लाता है? कर्म जो 'पुरुष' द्वारा किया गया है, स्वभावतः वही रंग लायेगा किंतु जो 'व्यक्ति' द्वारा किया जायेगा, वह कर्म कहां से होगा? पर अभिनय के स्तर में यदि 'मनुष्य' के कर्म का संपूर्ण अभिनय किया जाय तो उसमें रंग अवश्य पैदा होगा।

'प्ले' अथवा नाटक से जुड़ा हुआ व्यक्ति अभिनेता होता है, मजदूर या कर्मचारी नहीं। अतः, वर्तमान समय में औद्योगिक संस्कृति के कारण अब कोई कलाकार नहीं रह गया है, सब कर्मचारी और मजदूर हो गये हैं, तो अभिनेता कैसे कलाकार बनकर रह सकता है?

ग्रोटोवस्की ने 'एक्टर' की स्थिति के बारे में कुछ सवाल किये हैं। उनके जवाबों के भीतर से 'एक्टर' का पूरा स्वरूप प्रकट होता है। उसने पूछा है:

क्या थियेटर वस्त्र विन्यास और मंच सज्जा के बिना संभव है?

हां, सम्भव है।

क्या थियेटर सहयोगी संगीत के बिना संभव है? हां, संभव है।

क्या थियेटर नाट्यध्वनि के बिना संभव है? हां, सम्भव है।

तब क्या बिना अभिनेता के कोई थियेटर या रंगमंच संभव है ?

नहीं, बिल्कुल नहीं। एक अभिनेता और एक दर्शक, यहीं तो अनिवार्य तत्त्व है।

इस तरह हम थियेटर की यह परिभाषा करते हैं कि जो अभिनेता अथवा 'एक्टर' तथा दर्शक अथवा 'स्पेक्टेटर' के बीच में घटता है वही थियेटर या रंगमंच है। अन्य सारे तत्त्व केवल सहायक मात्र हैं।"

प्रायः नाटकों के संवादों को पढ़कर आज का अभिनेता, अध्येता, निर्देशक यह समझता है कि ये संवाद सस्ते हैं। इन संवादों को अक्सर जानकर उनकी उपेक्षा करता है, और उन्हें महत्त्वहीन बताता है। लेकिन सही अभिनेता जो वास्तव में अभिनय कला का स्वामी है, वह संस्कृत के इन संवादों के भीतर छिपे हुए इस तत्त्व को पकड़ेगा कि ये संवाद केवल बोलने मात्र के लिए नहीं है, बल्कि ये 'वाचिक' अभिनय है। सात्त्विक से पहले पूर्ण आंगिक है, फिर वाचिक का सात्त्विक अभिनय है, तत्पश्चात् पुनः वाचिक अभिनय है।

जो अभिनेता केवल संवाद बोलता है अथवा केवल संवाद का अभिनय करता है वह कैसा अभिनेता है ? संवाद का केवल वाचिक अभिनय करना सबसे सरल और हल्का काम है, क्योंकि ऐसा अभिनेता अपनी तरफ से कोई रचना नहीं करता। संवाद के साथ अभिनेता जब अपनी ओर से 'रचना' करता है, तो वह कर्म अभिनय बड़ा हो जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति की तरह अभिनेता भी काफी संबंधहीन व्यक्ति है। हम संबंधों का एक मुखौटा सदैव पहने रहते हैं। इसी मुखौटे के कारण अभिनेता का नाटक के किसी पात्र या चरित्र से कभी कोई संबंध स्थापित नहीं हो पाता। इस मुखौटे का हटना आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त अभिनेता की दूसरी सच्चाई है, चूंकि उसे विभिन्न प्रकार की भूमिकाएं करनी पड़ती हैं, इसलिए वह नितांत अकेला हो जाता है। इसी अकेलेपन को ढकने के लिए उसे मुखौटा लगाना पड़ता है। इस मुखौटे को तोड़कर पात्र की भूमिका में अवतरित होना अर्थात् संवेदित होना कठिन काम है। इसके लिए प्राचीन रंगभूमि में और विशेषकर लोक परंपरा में 'पूर्व रंग', 'पूजा', 'नृत्य' अथवा 'संगीत' का प्रयोग होता है कि अभिनेता का मुखौटा टूट जाए और वह कलाकार अभिनेता हो जाए। उसका अभिनेता से पात्र का सहज संबंध जुड़ जाए।

आधुनिक समाज में व्यक्ति चूंकि अपने यथार्थ जीवन में विभिन्न परिस्थितियों में तमाम भूमिकाएं निभाते-करते स्वभावतः अकेला हो जाता है और उसे एक अदृश्य मुखौटा ओढ़ना पड़ता है। वही आधुनिक व्यक्ति जब किसी महफिल में धीरे-धीरे

भरोसा पीकाक (यही उसका पूर्व रंग है) अपने मुखौटे को तोड़कर अपनी असलियत में आता है, तभी वह अभिनेता बन जाता है। पर इस आधुनिक व्यक्ति का दुर्भाग्य दोहरा है। अब वह पलायन करता है क्योंकि वह संबंधित नहीं हो पाता। उसके और संबंधों के बीच में अभाव होते हैं। अभिनेता और उसकी भूमिका में यदि कोई अहंकार रूपी नदी का संबंध है, तो वहां भी अभिनय कला नहीं बन सकती।

प्रसिद्ध नाट्यनिर्देशक पीटर ब्रूक ने अपनी पुस्तक 'द एम्पटी स्पेस' में एक संस्मरण बताया है कि वह एक बार 'कॉमेडिया फ्रांसे' में एक रिहर्सल देख रहे थे, जिसमें एक युवा एक्टर एक वृद्ध एक्टर के सामने खड़े होकर इस तरह अभिनय करते हुए संवाद बोल रहा था मानो वह किसी आइने के सामने खड़ा होकर अभिनय-अभ्यास कर रहा हो और दर्पण भी उस अभिनय-अभ्यास में सजीव रूप से भाग ले रहा हो। इसका अर्थ यह हुआ कि अभिनय कला एक पारंपरिक कला है। वृद्ध एक्टर से नया एक्टर 'एक्टिंग' का अर्थ और उसका रहस्य प्राप्त करता है। पुरानी कला नये के ही प्रसंग में बार-बार जांची जानी चाहिए और समसामयिक संदर्भ में ही परंपरा को स्वीकार किया जाना चाहिए। इसी को हमारे यहां 'गुरुवाद' की संज्ञा दी गयी है।

पीटर ब्रूक ने उस पुस्तक में अभिनय और प्रस्तुतिकरण के प्रसंग में थियेटर को चार रूपों में देखा है 'द डेडली थियेटर,' 'द होली थियेटर,' 'द रफ थियेटर,' 'द इमिडिएट थियेटर'।

उसने 'डेडली' या मृतप्राय उसे कहा है जो किसी काल विशेष में बंधा अथवा जड़ होकर रह गया है और उसे क्लासिक, प्राचीन, नवीन, प्रधान, नृत्य-प्रधान, लोकप्रिय 'हिस्टोरिक', रोमांटिक आदि नाम देकर बदसूरत बना दिया गया है।

अभिनेता का या उसकी अभिनय कला का निरंतर विकास तभी संभव है जब अभिनेता का अपनी 'भूमिका' से गहरा संबंध हो। दूसरी ओर उसका अपने दर्शक समाज से रिश्ता, सहज, स्वाभाविक संबंध हो। इन संबंधों से तीन महत्वपूर्ण चीजें पैदा होती हैं। पहला, नाटक और रंगभूमि के प्रति एक सहज प्यार, दूसरा, लगातार सबसे संबंधित होते रहने की प्यास, तीसरा एक ही भूमिका को बार-बार करने से उसमें हर बार एक नयी अनुभूति (रस) का सृजन।

सिद्धांत रूप में नाटककार स्वतंत्र है, रंगभूमि पर कुछ भी लाने के लिए। परन्तु व्यावहारिक रूप में वह जीवन का उतना ही हिस्सा रंगभूमि पर उपस्थित कर सकता है जितना उसकी कल्पना में आता है। इस अनुपात में अभिनेता उतने को ही जीवन यथार्थ मानने को विवश है जो उसकी भूमिका-क्षेत्र में आता है। पर कलाकार अभिनेता वह है जो जीवन यथार्थ को इस मजबूरी की सीमा में बांधकर न देखे। अभिनेता का अभिनय अवश्य नाटक में दी गयी भूमिका के अनुसार सीमित है

तो दर्शक को नाटक बोलते हुए दिखायी जरूर पड़ेगा, कभी सुनायी नहीं पड़ेगा। नाटक अभिनेता के माध्यम से देखना, सुनना और रंग जाना तभी संभव है जब उसके चरित्र और व्यक्तित्व में यह तत्त्व सदा विद्यमान रहे कि वह अंधकार से प्रकाश की ओर 'कुछ' ले जा रहा है। हिंदू, ईसाई और इस्लाम इन तीनों मतों में यह समान विश्वास है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान है। स्वर्ग से पृथ्वी तक, यहां से वहां तक जो फासला (विरह) है, उसे पार करने के लिए यह यात्रा अनिवार्य है।

नाटक का प्रारंभ होने से पूर्व रंगभूमि पर अंधेरा होता है। यह अंधेरा यात्रा से पूर्व का अंधेरा है। अभिनेता के प्रवेश के साथ-साथ भूमि पर प्रकाश उभरता है। यह यात्रा के शुभारंभ का प्रकाश है। अभिनेता के संचरण के साथ-साथ दर्शक धीरे-धीरे अभिनेता के अंग में बैठा हुआ सत्य के अनुभव और 'अभिज्ञान' से अभिभूत होने लगता है। इसीलिए जो अभिभूत कर दे अंतः वही अभिनेता है। अभिनेता व्यक्ति का अभिनय नहीं करता। वह व्यक्ति की भूमिका को निर्वैयक्तिक होकर करता है। स्वयं को भूलकर दूसरे की भूमिका में प्रवेश करना या अवतरण करना, यही है भूमिका।

पारम्परिक भारतीय अभिनेता अभिनय, नृत्य, संगीत, विशेषकर लोक नाट्य, लोकनृत्य, लोक संगीत में, ईश्वर, देव, देवी, की वंदना से ही अपना कार्य शुरू करता है। वह एक ओर अपनी सफलता के लिए पूजा वंदना करता है, दूसरी ओर क्षमा-याचना करता है। इसलिए कि वह ईश्वरीय अंश में प्रवेश करने का साहस कर रहा है। 'भूमिका' शब्द का यही अर्थ है, दूसरे की भूमि का होना या उसमें जीने वाला या उसमें प्रवेश करने वाला। इसी अर्थ में अभिनेता का कर्म संपन्न होता है। कर्म अपने दोनों अर्थों में। पहला, अभिनय कर्म, दूसरा, शुद्ध कर्म। जिंदगी में हम क्रिया के स्थान पर प्रतिक्रिया का जीवन जीते हैं। किंतु रंगमंच पर अभिनेता शुद्ध कर्म करता है। वह जानता है, और यह ज्ञान नितांत आवश्यक है कि 'यह' मैं हूं और 'यह' मेरी भूमिका है। यह ज्ञान और शुद्ध कर्म का आधार है। शुद्ध कर्म में किसी फल की लालसा नहीं रहती। जिसमें निष्काम भाव से किया गया कर्म उसमें से जीवन में रंग आता है, वही भूमि पर भी रंग पैदा करता है।

मनुष्य में दो रूप हैं दिव्य और मानवीय। जीवन में जब कोई अभिनेता या मनुष्य प्रकाशित होकर (आत्मज्ञान) अपनी भूमिका निभाता है, तब वह अपने स्वभाव में होता है। हम सब अपने स्वभाव की तलाश में भटक रहे हैं, अभिनय कर रहे हैं। जिस दिन हमें अपने स्वभाव का ज्ञान हो जायेगा, हमारा अभिनय

सकाम और संपूर्ण हो जायेगा ।

शिव नटराज हैं और कृष्ण नटवर । ये दोनों इसीलिए नटराज और नटवर हैं, क्योंकि वे स्वयं अपने 'स्वभाव' में हैं और हम सब को भाव से 'स्वभाव' में ले आने के लिए सार्थक लीला कर रहे हैं। लीला का एक अर्थ है — लीलना। लीलने की अत्यधिक शक्ति अग्नि में है। अग्नि की लपटें ही उसकी असंख्य जिह्वाएं हैं, जहाँ जिह्वाओं से वह सबका लीलती है। लीलने का अर्थ है, लीला (अभिनय) और लीला का अर्थ है, सब कुछ दिखाते हुए जाना, अव्यक्त, प्रत्यक्ष से परोक्ष तक। भाव में अभिनय, अभिनय से भाव, और भाव से रस तक। रस भावहीन नहीं होता, तथा रसहीन भाव नहीं होता, इनके परस्पर संबंध से ही अभिनय से सिद्धि दिखायी देती है।

दूसरी बात, आत्मबोध को पुरस्कृत करके ही विषयबोध संभव है, अन्यथा नहीं।

इसी विशेष संदर्भ में अभिनयधारणा सामने आत्म को पुरस्कृत करना है। विषय कल्पना के तुष्ट, आत्म कल्पना, आत्माभिव्यंजन से ही निःसृत है।

अभिनय में जो 'नय' है वह धर्म प्रदान है। जीवन में व्यक्ति की प्रत्येक भूमिका वस्तुतः अपने आपको खोजती, सोचती हुई आत्मकेन्द्र की दिशा में ले जाने वाली है। चेतना के अंश रूप ही 'पात्र' हैं। उन्हीं पात्रों में रहकर देखकर ही अपने स्वरूप का ज्ञान होता है।

फिर भी अगर ज्ञान नहीं होता, तो वहीं पश्चिम का ड्रामा है —ट्रेजिडी।

पर भारतीय नाट्य में आत्मज्ञान का यही संकेत है कि विषयासक्ति पात्र की एक अवस्था मात्र है, पर पात्र की भूमिका का पक्ष है, उस आसक्ति को देख लेना।

हमारा विश्वास है, विषयासक्ति केवल व्यक्तिगत जीवन में ही दुःख का कारण नहीं, वह राष्ट्रीय जीवन में भी पतन का कारण है। संस्कृत की सभी महत्त्वपूर्ण नाट्य-कृतियों, रघुवंश, कुमारसंभव जैसे काव्यों में यह ध्वनित है। तपस्या द्वारा विशुद्ध हुए बिना, शक्ति न आत्मशक्ति बन सकती है न न्याय या राजशक्ति।

फलतः शिव और शक्ति, अर्थात् श्रद्धा-विश्वास, अर्थात् प्रवृत्ति और निवृत्ति : प्रकृति और पुरुष के योग बिना संभव नहीं है।

पश्चिम के ड्रामा में जो 'एक्शन' है उसका आधार है, प्रकृति और पुरुष के बीच एक मौलिक विभाजन की दृष्टि।

भारतीय नाट्य में अभिनय दृष्टि का आधार है, योग ज्ञान से युक्त हुए बिना प्रकृति और विकृति का भेद निरंतर चलता रहेगा। अतः संस्कृति की ओर चलना धर्म है।

हमारा पूरा नाट्य-धर्म इस विश्वास पर आधारित है कि प्रकृति अभिनय शक्ति से संबंध के बिना पुरुष का देश और राष्ट्र के ऐश्वर्य और पुरुषार्थ की सिद्धि संभव

न होगी।

इसी से अभिज्ञान शाकुन्तलम् नाटक का भरत वाक्य है : राजा प्रजा के कल्याण में रत हों। शास्त्र के ज्ञानियों द्वारा सरस्वती का आदर हो और व्यापक शक्ति वाले स्वयंभू नीललोहित शिव मुझे भी पुनर्जन्म से मुक्त करें।[10]

अनुभव और अभिनय दोनों के अंतर को समझना है।

जीवन में अनुभव के बाहर कोई व्यक्ति और मनुष्य नहीं है। अनुभव एक दुख प्रवाह है। जो अपने ही भीतर से भोगा – इच्छा, स्वप्न, अभाव और विषयासक्ति – से भरा रहता है। वहीं मनुष्य, जिसके पास न इतना अनुभव भरा है, उसकी 'अवस्था' से 'रूपक' या नाटक निर्मित कर और उसे अभिनीत कर उसके दर्शकों का दुख (भ्रम) ही तो काटता है। श्रमविहीन, मुक्त अभिनय एक अद्भुत सृजन है। तभी यह आनन्दमय है।

मुझे लगता है, रंगभूमि पर प्रस्तुत नाट्य एक विराट जल पात्र है, जिसमें अभिनेता और दर्शक सानंद अपना रूप देखता है।

'भूमि' और 'रंग' जितना प्रत्यक्ष और दृश्य है उतना ही अप्रत्यक्ष है। जितना यथार्थ है, उतना ही भाव है। अभिनय कला की स्वभावतः यही स्थिति है। हम सच्चाई को ही नहीं, सत्य को देखना चाहते हैं। सत्य केवल भाव से ही देखा जा सकता है। फलतः असली अभिनय, भाव का अभिनय है। रस, संदर्भ में विपरीत स्थितियों से जो चित्र बना, स्थिति उभरी वही है अभिनेता की भूमि। उस भूमि पर मेरा आचरण क्या हुआ और क्या धर्मसम्मत है, यही है पात्र की भूमिका करने वाला अभिनेता। उसकी यही भूमिका अभिनेता का पात्र है। मेरी अभिनयात्मकता से मेरे अभिनेता की भी पहचान निर्धारित होगी।

दूसरी ओर, इसी भूमि पर मेरी रचित भावना में कला मोड़ने से बीज बोये जाएँगे। उन्हीं बीजों से सद्गुणों के फल आयेंगे।

अभिनय का सार केवल 'समझ' नहीं है। उसका सार है भाव में श्रद्धा और श्रद्धा से विश्वास का। तभी तो हम समझदारी से असली सत्य को देख पायेंगे। वरना केवल 'समझ' से देखने और अभिनय का मतलब है नकली अभिनय, फिल्म सामग्र

सीता, कर्ण, अर्जुन, दुष्यंत, आदि जिस पात्र से भाव 'भीतर' उसकी भूमि में संजोकर रखा हुआ है, यह स्वयं देखना और दर्शक को दिखाना, यही है भारतीय अभिनय कला।

हमारे नाट्य में एक ही अभिनेता, नर्तक, कथक, लीलाधारी स्वांगी आदि एक ही भूमि पर अनेक भूमिकाएँ करता है। अभिनय, मंचन, दिखावट। क्यों? आत्मज्ञान, आत्मबोध के लिए। इसकी व्यंजना यह है कि नाना जन्मों में नाना भूमिकाओं में मैं आ चुका हूँ देखो।

संदर्भ

1. दुःख का यही प्रभाव जयशंकर प्रसाद के सभी नाटकों के स्वगत कथन पर है।
   देखिए - स्कन्दगुप्त का पहला ही स्वगत कथन।
2. कला और साहित्य की दार्शनिक भूमिका, शिवशंकर अवस्थी, पृष्ठ 65-66
3. कला और साहित्य की दार्शनिक भूमिका, लेखक - शिवशंकर अवस्थी, पृष्ठ 67
4. म.म. गोपीनाथ कविराज, भारतीय संस्कृति और साधना, भाग 2
   वि० सं० 1979, पृ० 219
5. (क) कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
   सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥ — (ऋग्वेद)
   (ख) हृदय सिंधु मति सीप समाना, स्वाति सारदा कहहिं सुजाना।
   जौं बरषइ बर बारि बिचारू, होहिं कबित मुकुतामनि चारू॥ — (तुलसीदास)
6. [illegible] यद् [illegible] प्रतीयते।
   [illegible] ॥
   —भर्तृहरि, वाक्यपदीय 3.8.12
7. पुरुष का तात्पर्य है जो अपने मन पुर में स्थित है। —[illegible]
8. What takes place between spectator & actor.
   —Jerzy Grotowski, Towards a poor Theatre p. 32
9. अल्लाह का ही स्वर्ग और धरती पर आधिपत्य है। इनके (स्वर्ग और धरती तथा [illegible] और अल्लाह के) बीच का [illegible] और अल्लाह [illegible] पूरा करता है।
   अल कुरान [illegible]
10. [illegible]
    [illegible]
    [illegible]
    [illegible]

प्रस्तुति

हमारे यहां सारी कलाएं उत्सवधर्मी हैं। क्योंकि सारी कलाएं, अपनी संस्कृति की अनिवार्य अंग हैं। इसलिए बुनियादी तौर पर सबसे पहले यह जान लेना चाहिए कि अपनी संस्कृति में उत्सव की अवधारणा क्या है? उत्सव किसका? भाव का या पदार्थ का? आत्मा का या शरीर का? नाट्य का या मनुष्य का? स्थिति का या ऋतु का? इन्हीं प्रश्न के ये पक्ष हैं। उत्सव, चाहे वह नाट्योत्सव हो या संगीतोत्सव, यहां तक कि विवाह उत्सव, वह अपने स्वरूप में प्रस्तुति है या प्रदर्शन?

संस्कृति की अभिव्यक्ति उत्सव भाव है और उस भाव की प्रस्तुति संस्कृति की परख है। व्यवस्थाओं की उन्नति का पैमाना किसी हद तक ही राज्य की सम्पदा, शक्ति, सत्ता हो सकती है, पर वह समाज की समृद्धि प्रकट करने का पैमाना नहीं हो सकती। समाज की समृद्धि का पैमाना उसकी कला प्रस्तुतियां ही हैं। जैसे उल्लास यानी आनंद भाव, वैसे उस भाव की प्रस्तुति यानी नृत्य गायन और अद्भुत दृश्य की स्तुति।

प्रस्तुति का आधार प्रकृति स्तुति है, विशेष प्रकार की स्तुति, जिसमें व्यक्ति, समाज, प्रकृति, दृश्य, भूमि, रंग, देश-काल, स्थूल सूक्ष्म सब सम्मिलित हैं, इसलिए यह सबको, पूरे समाज को ऐसा संस्कार देती है कि वो अपने आनंद को जितना लेता है, उतना ही वह दूसरों के साथ बांटना चाहता है। वह अपने जीवन में आनंद ग्रहण करने और उसको बांटने की प्रस्तुति का स्वयं अभिनेता हो जाता है। और अपना दर्शक भी होकर देखने लगता है कि जितना बांटता है, उतना ही बढ़ता है। वह किसी एक का, चाहे वह कोई एक भाव, विचार हो, पद हो, स्थिति हो, कोई धन बल या वैभव ही क्यों न हो, उसकी सीमा को तोड़कर स्वतंत्र हो जाता है। इसी संदर्भ में रस को जो चरम समृद्धि का बिंदु कहा गया है, वह यही चित्त-स्वतंत्रता की अवस्था है। और यही वह अवस्था है जिसका संकेत भारतीय नाट्य परिभाषा में गूढ़ ढंग से निहित है—'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्।'

प्रस्तुति

हमारे यहां सारी कलाएं उत्सवधर्मी हैं। क्योंकि सारी कलाएं, अपनी प्रकृति की अनिवार्य अंग हैं। इसलिए बुनियादी तौर पर सबसे पहले यह जान लेना चाहिए कि भारतीय संस्कृति में उत्सव की अवधारणा क्या है? उत्सव किसका? भाव का या पदार्थ का? प्राण का या शरीर का? नाट्य का या घटना का? स्थिति का या वस्तु का? इसी प्रश्न के दो पक्ष हैं — उत्सव, चाहे वह नाट्योत्सव हो या संगीतोत्सव, यहां तक कि विवाह उत्सव, वह अपने स्वरूप में प्रस्तुति है या प्रदर्शन?

संस्कृति की अभिव्यक्ति उत्सव भाव है और उस भाव की प्रस्तुति संस्कृति की परख है। सम्पन्नताओं की प्रस्तुति का पैमाना किसी हद तक ही राज्य की समृद्धि, [illegible] हो सकती है, पर वह समाज की समृद्धि प्रकट करने का पैमाना नहीं हो सकती। समाज की समृद्धि का पैमाना उसकी कला प्रस्तुतियां ही हैं। जैसे उल्लास भरे आनंद भाव, जैसे उस भाव की प्रस्तुति भाव हृदय संवाद और सहृदय रस की प्रस्तुति।

प्रस्तुति का आधार चूंकि स्तुति है, विविध प्रकार की स्तुति, जिसमें व्यक्ति, समाज, प्रकृति, पुरुष, भूमि, रंग, देश-काल, स्थूल सूक्ष्म सब सम्मिलित हैं, इसलिए यह सबको, पूरे समाज को ऐसा संस्कार देती है कि जो अपने आनंद को जितना जीता है, उतना ही वह दूसरों के साथ बांटना चाहता है। पर अपने जीवन में आनंद ग्रहण करने और परस्पर बांटने की प्रस्तुति का स्वयं अभिनेता हो जाता है। और बांटता दर्शक भी होकर देखने लगता है कि जितना बांटता है, उतना ही बढ़ता है। जब किसी एक का, चाहे वह कोई एक भाव, विचार हो, पद हो, स्थिति हो, कोई एक बल या वैभव ही क्यों न हो, उसकी सीमा को तोड़कर स्वतंत्र हो जाता है। इसी संदर्भ में रस को जो चरम समृद्धि का बिंदु कहा गया है, वह यही चित्त-स्वाधीनता की अवस्था है। और यही वह अवस्था है जिसका संकेत भारतीय नाट्य परिभाषा में गूढ़ ढंग से निहित है — 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्'।

आनंद का संबंध चित्त की समृद्धि पर निर्भर है। इसीलिए भारत ने भौतिक समृद्धि की सीमाओं और मर्यादाओं को समझ कर ही चित्त की समृद्धि पर अधिक जोर दिया है। उसी की समृद्धि के लिए हमारे यहां नाना अनुष्ठान और उत्सव हैं।

चित्त की यह समृद्धि व्यक्ति से लेकर पूरे समाज को अनेक रूपों में इस तरह बांधती है कि वह आनंद का रूप हो जाता है। हमारी कला उत्सवों के केंद्र में ही, हालांकि आज उस रूप में इस तरह नहीं रह गए, भारतवर्ष ने फिर भी अपने समाज के आनंद के अवसरों को किसी तरह जीवित रखा है।

इसीलिए इस प्रश्न का उत्तर हमें पा लेना है कि चित्त की समृद्धि से उद्भूत आनंद भाव की प्रस्तुति हो सकती है या उसका प्रदर्शन? सारी कलाओं में नाट्य कला के आधार पर रंग और भूमि के परिप्रेक्ष्य में हम इसका उत्तर देना चाहेंगे, क्योंकि सारी कलाओं में विशेषकर नाट्य कला संपूर्ण और एकांतरूप से प्रस्तुति-धर्मी कला है। लेकिन हमारे पास इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि भारत में अंग्रेजी राज कायम होने के साथ-ही साथ नाट्य कला क्रमशः प्रस्तुति के स्तर से गिरते-गिरते आज प्रदर्शन के स्तर पर गिर गयी है। कला क्षेत्र के मूल्य-ह्रास के कारणों में हम बाद में जायेंगे। पहले इसके स्थूल और प्रत्यक्ष कारणों को देखना होगा। जब तक अपने भावों और मूल्यों के प्रति हममें जितनी श्रद्धा होती है उसी अनुपात में हम अपने उत्सवों और अपनी कलाओं को प्रस्तुतिधर्मी बना पाते हैं। यह तभी संभव है जब हमारे भाव, हमारे प्राणों से सहज हो उठते हैं। यह भी तभी संभव है जब हमारी कला, हमारे उत्सव, हमारी जीवन शैली, हमारे जीवन के एक स्वाभाविक अंग होते हैं।

अंग्रेजी राज कायम होने से पहले जैसे पूरे भारतवर्ष में कृषि यहां के लोगों का एक अंग थी, उनकी जीवन शैली थी, ठीक उसी तरह उसी जीवन दर्शन के अनुरूप नाट्य प्रस्तुति भी हमारे जीवन का एक अंग थी। जैसे कृषि कर्म केवल एक आर्थिक गतिविधि नहीं थी, भारत के प्राचीन गांवों के लोगों के लिए जीवन की एक बुनियादी प्रवृत्ति थी, ठीक उसी तरह नाट्य-उत्सव, नाट्यप्रस्तुति लोगों के लिए जीवन की एक कलात्मक प्रवृत्ति थी। यह ऐसी प्रवृत्ति थी जो जीवन की सभी आवश्यकताएं पूरी करती थी। नाट्य के स्तर पर जीवन को समृद्ध करना उसका मुख्य लक्ष्य था। तब यह प्रस्तुति कला थी, प्रदर्शन कला नहीं। प्रस्तुति कला थी। इसीलिए समाज को जैविक तन्तुओं से भरी, स्वस्थ और उसे सुदृढ़ बनाने वाली थी।

इसके ऐतिहासिक प्रमाण हमारे पास मौजूद हैं कि 19वीं शताब्दी में जैसे अंग्रेजी राज की तरफ चूकने के फेर में लोगों के और कृषि कर्म के संबंधों में दुर्व्यवस्था फैल गई, उसी तरह नाट्य प्रस्तुतियों पर अंग्रेजी राज का अंकुश और उनकी ओर से लगायी गई बाधाओं के कारण समाज और नाट्यकर्म के संबंधों में फर्क पड़ गया। इसका परिणाम यह हुआ कि जो नाट्य कर्म समाज रचना के साथ आनंद

की सहज प्रस्तुति थी वही उत्तरोत्तर आगार बनती चली गयी और उसे मजबूर होकर प्रस्तुति के प्रदर्शन के स्तर पर आना पड़ा। इसके उदाहरण भारतेंदु काल की नाट्य कला में मिलते हैं और इससे ज्यादा प्रमाण हमें उस समय से लेकर आज तक के रामलीला, रासलीला जैसे धार्मिक उत्सववर्ती प्रस्तुतियों में मिलते हैं।

अपनी इन परंपराओं में नाट्य की अपनी भूमि पर एक ही साथ खेला जाता नहीं, रचा जाता है और साथ ही उसे देखा जाता है। अर्थात् अभिनेताओं द्वारा भाव की प्रस्तुति होती है, दर्शकों द्वारा उस प्रस्तुति को, उस भाव को ग्राहक बनकर ग्रहण करता है। इसी संदर्भ में हमारे यहां का अभिनेता 'भावक' था और दर्शक 'ग्राहक' इन दोनों पक्षों के बीच श्रद्धा और विश्वास से निर्मित एक ऐसा सेतु निर्मित होता था जो हमारी जीवित संस्कृति का प्राण तत्त्व था। अभिनेताओं द्वारा अनेक तत्त्वों के मिश्रण से रचना की गयी प्रस्तुति दर्शक ग्राहक तक पहुंचा देना यह कोई साधारण कार्य नहीं था। प्रदर्शन तो एक साधारण कार्य है। किन्तु प्रस्तुति कारण किसी शिल्पी या कलाकार का ही कर्म है।

हमारे भारतीय नाट्य में वह महत्त्वपूर्ण व्यक्ति है, नाट्याचार्य, नाट्यप्रयोक्ता या सूत्रधार। नाट्याचार्य और सूत्रधार पहले दोनों अलग अलग कलाकार थे, किन्तु जैसा कि संस्कृत नाटकों में प्रकट है सूत्रधार ही वह कलाकार है जो नाट्यप्रयोक्ता है।

सूत्रधार के बारे में विशेषकर उसके गुण बताते हुए भरतमुनि ने यह लिखा है, "जो गायन वादन, भाव और पाठ्य को नाट्यशास्त्र में वर्णित नियम के अनुसार मिलाकर उनका प्रयोग करता है उसे सूत्रधार कहते हैं।" इस सूत्रधार के गुण आगे बताते हुए भरतमुनि ने लिखा है :

सूत्रधार का लक्षण यह है कि आरंभ में मंगलाचरण करे, उसमें इच्छित वाणी बना सकने का सामर्थ्य हो, ताल, स्वर, बाजे इत्यादि का पूरा ज्ञान हो, चारों प्रकार के बाजे बजाने में चतुर हो, शास्त्र का व्यवहार भलीभांति जानता हो, अनेक प्रकार के धर्मशास्त्र का ज्ञाता हो, नीति और शास्त्र का मर्म जानने वाला हो, वेश्याओं का शृंगार करने में निपुण हो, कामशास्त्र भलीभांति जानता हो, अनेक प्रकार के गीतों का विचार जानता हो, रस और भाव को भलीभांति समझता हो, नाट्य प्रस्तुति की सब क्रियाएं भलीभांति जानता हो, शिल्प और छंद के नियम जानता हो, सब शास्त्रों का पंडित हो, ग्रहों और नक्षत्रों की चाल समझता हो, शरीर की सब चेष्टाएं जानता हो, पृथ्वी, द्वीप, वर्ष, पर्वत तथा राजकुल के लोगों के प्रामाणिक जीवनचरित्र जानता हो, शास्त्र का अर्थ करने वालों की बात भलीभांति सुनता हो, सुनकर समझता हो, समझकर उसका वर्णन करता हो और उसकी प्रस्तुति कर सकता हो। ये सब गुण जिसमें हों वही सूत्रधार हो सकता है। चूंकि नाट्य की प्रस्तुति होती है, इसलिए सूत्रधार के ये गुण अनिवार्य माने गये हैं।

लेकिन तमाम ऐतिहासिक कारणों से जब प्रस्तुति की जगह प्रदर्शन का अध्याय शुरू हुआ तो इसके साथ प्रदर्शनकर्ता हमारे समाज में उदित हुआ। यही प्रदर्शनकर्ता एक ओर जमींदार के नाम से जाना जाने लगा, दूसरी ओर ठेकेदार, व्यापारी और सरकार और जनता के बीच में दलाल और चौधरी और इन्हीं को निर्देशक की संज्ञा मिली।

पश्चिमी थियेटर में डायरेक्टर अथवा निर्देशक और नाटककार के बीच वहां की परंपराओं के कारण भिन्न संबंध रहा है, किंतु भारत में नाटक और नाट्य-प्रस्तुति इन दोनों के बीच प्रस्तुति का भाव होने के नाते निर्देशक की कोई जैसी अवधारणा यहां नहीं रही है। यहां तक कि पारसी थियेटर तक में जिस अर्थ में पश्चिम का डायरेक्टर है वैसा यहां कोई प्राणी नहीं है। पारसी थियेटर में मुख्य रूप से निर्देशक के स्थान पर बैठे मास्टर का ही स्थान है।

वस्तुतः निर्देशक का उदय आधुनिक युग की देन है। विशेषकर यह उस काल और ऐतिहासिक सामाजिक अवस्था की उपज है जब हमारे जीवन से परंपरागत मूल्य और आदर्श छिन्न-भिन्न होने शुरू हुए। समाज में जब परस्पर संबंध सामूहिक भाव निर्मित होना बंद हो गया और समाज विभिन्न वर्गों और व्यक्तियों में बंटता चला गया, तो स्वभावतः नाट्य-क्षेत्र में किसी एक ऐसी शक्ति जैसे व्यक्ति की आवश्यकता हुई जो नाटक और प्रदर्शन के विविध अंगों, पक्षों और तत्त्वों के बीच तालमेल स्थापित कर सके, उनके बीच सामंजस्य कर सके तथा नाटक और नाटक के प्रदर्शन को एक निश्चित दिशा दे सके।

नाटक और उसका प्रस्तुतिकरण एक ऐसी विशेष कला है जिसका माध्यम और साधन सजीव मनुष्य है। अभिनेता नाटक के अर्थों को स्पष्ट और रूप में जीवित कर व्यक्त करता है, इस अर्थ और अभिव्यक्ति में निर्देशक अथवा प्रस्तुतकर्ता का महत्त्वपूर्ण हाथ है। भारतीय नाट्य का सूत्रधार शब्द इस अर्थ में बहुत ही अर्थवान है कि जिसके हाथों में नाटक का ही सूत्र नहीं रहता था बल्कि वह प्रस्तुतिकरण के संपूर्ण सूत्रों का धारक होता था।

प्राचीन काल से जब से नाटक की प्रस्तुति का आरंभ हुआ है, तब से अठारहवीं सदी तक नाट्य प्रस्तुति का एक ही समग्र आधार है — प्रस्तुति के विभिन्न अंगों, पक्षों के बीच एकसूत्रता को स्थापित करना। यह एकसूत्रता जितनी आंतरिक है, उतनी ही बाह्य भी है। इसलिए समाज और व्यक्ति में जैसे-जैसे आंतरिक संगीत और एकसूत्रता, परस्पर संबंध टूटते चले गए, वैसे-वैसे रंगसृष्टि, रंगमंच, में बदलती चली गई, फलतः प्रस्तुति के स्थान पर प्रदर्शन के कारण डायरेक्टर की अनिवार्यता बढ़ती चली गई। जब तक अपना 'रंग' धर्म तब तक यह अपने अनुष्ठानों, उत्सवों, व्रत-त्यौहारों अथवा धार्मिक विश्वासों से जुड़ा रहा है। तब तक इस प्रस्तुति का दर्शक वर्ग सहज ही अपने रूप और सजीव अंगों से सहभागी होता रहा। किंतु जब से पश्चिमी शासन के कारण तर्क और अविश्वास के दबाव

हो, सामाजिक जीवन में धर्म का भाव, पर्व, उत्सव, त्योहार का बोध क्षीण होता गया और देवता, ईश्वर, पुराण के प्रति अविश्वास पैदा होता चला गया, तब से स्वभावतः भूमि की जगह पर्व प्रस्तुति के स्थान पर प्रदर्शन के कारण नाट्य प्रदर्शन में कथा, पात्र, प्रकृति और विश्वास के सूत्रों में बांधने की चुनौती बढ़ती चली गई। फलतः प्रदर्शन में निर्देशन का महत्त्व बढ़ता चला गया। जो काम पहले धार्मिक विश्वासों और परम्पराओं से, पारम्परिक मंडली के कारण सहज ही हो जाता था, अब आगे अलग। इसी प्रकार मंच संयोजन, ध्वनि प्रभाव आदि शिल्प व्यवस्थाओं द्वारा [illegible] किया जाने लगा।

प्रस्तुति में वह कौन-सा नाट्य तत्त्व है जो दर्शक, प्रेक्षक समाज का [illegible] भाव से संप्रेषित होता है?

संभवतः यही कि वह जीवन जिसे हम अपने देश काल की सीमा में बांधे बैठे हों, अपने आप गुण-स्थिति के साथ मिले हुए हों, वह पूरा नहीं है। प्रस्तुति में यही विस्तार और अनुभूति देने का प्रयत्न है कि जीवन देश-काल से परे, इसकी सीमा से अगाध और बृहत्तर है। नाटक केवल देश-काल का अंश है। इस सत्य को अपना भाव न बना सकने के कारण, स्वयं अपना संबंध न स्थापित कर पाने के कारण हम स्वयं 'नाटक' [illegible] हैं। इस नाट्य-दर्शन की अनुभूति (आस्वाद) ही प्रस्तुति का लक्ष्य है। किंतु आलोचना का [illegible] कोई जड़ स्थिति नहीं है, बल्कि नया, जीवन्त [illegible] है। इस दर्शन का आरंभ यहीं से होता है, इस विश्वास से कि अनेक [illegible] कुछ मिलता है। प्रस्तुति से कुछ देखकर हमारे भीतर कोई पत्थर अकस्मात [illegible], कोई बंद [illegible] खुल गया है, भीतर [illegible] कोई किरण [illegible] [illegible] कोई नया [illegible] जाता है।

प्रस्तुति की यह प्रक्रिया, एक आत्मसंघर्ष है। दर्शक, निर्देशक, अभिनेता, नाटककार सब अपने अपने [illegible] के साथ इस अन्तर्संघर्ष का सामना करते हैं। इस सामना करने की प्रक्रिया में अपने अपने मुखौटों से बाहर आते हैं। इस अर्थ में प्रत्येक महत्त्वपूर्ण नाटककार, अभिनेता और रंगशिल्पी, एक संपूर्ण चुनौती के रूप में है। यह चुनौती [illegible] के प्रति है और दर्शक समाज के प्रति भी। इस तरह रंग कर्म से जुड़ा हुआ प्रत्येक प्राणी अपने [illegible] दृष्टि, भाव जीवन स्थितियों की सीमाओं से [illegible] जाता है। [illegible] में मनुष्य ही साधन है और मनुष्य का शरीर, उसकी भाषा, उसके आंतरिक भाव यहीं सब नाट्य के माध्यम हैं।

[illegible] जब [illegible] अंग था, तब [illegible] यह संपूर्ण था। उसका अभिनय, नाट्यशास्त्र [illegible] विश्वास, निष्ठा से अभिभूत था। इस [illegible] का दर्शक [illegible] अपने विश्वास और आस्था को नाट्य-प्रस्तुति में [illegible] और [illegible] करता था। [illegible] रंगभूमि और दर्शक के बीच [illegible] का कोई [illegible] रंगभूमि पर अभिनीत नाटक

की भूमिकाओं द्वारा जो भाव बरसता था वही सहज ही दर्शक के पात्र में भर जाता था। इसे यों भी कह सकते हैं कि जो रस दर्शक के पात्र में बरस रहा है वही समान रूप से रंगभूमि पर भी बरस रहा है। नाट्य का माध्यम, प्रस्तुतिकरण बरसता हुआ आकाश था, दर्शक-समाज धरती था। जो संबंध नभ और पृथ्वी का है, जल और वायु का है, रस और पात्र का है, वही परस्पर संबंध नाटक, अभिनेता, प्रस्तुतिकरण और दर्शक का है। यह संबंध सीधा नहीं है, अपितु मंडलाकार है। जैसे — संगीत, क्षितिज, घट। इस तरह प्रस्तुति एक भावानुभूति है जिसमें दर्शक, अभिनेता, सूत्रधार एक साथ में मिलकर किसी पर्व, उत्सव और महोत्सव का अंग होता है।

वर्तमान स्थिति उससे सर्वथा भिन्न है। न वह सामुदायिक भाव है, न बुद्धि और तर्क से परे जाने का संस्कार। अर्थात् अपनी संस्कृति निर्मूल है। यह सच है कि किसी न किसी रूप में धर्म के प्रति विश्वास अब भी है। पर यह विश्वास सर्वथा अलग-अलग व्यक्तिगत स्तर का है। कला और संस्कृति में अलग-अलग व्यक्तिगत विश्वास की इतनी सार्थकता नहीं है जितनी सामूहिक निष्ठा और विश्वास की है। नाट्य व्यक्तिगत कला है ही नहीं, मूल रूप से सामाजिक कला है। व्यक्ति को सामाजिक बना देना, यही इसका मूल उद्देश्य है। व्यक्ति सामाजिक हुए बिना इस कला का कोई अस्तित्व नहीं है।

जीवन की अजब विशेषता है कि वह अपने स्वार्थ से एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से अलग करती है और समाज से मनुष्य को अलग रखती है। क्योंकि दुःख और सुख निजी अनुभव होते हैं। इसी अनुभव के आधार पर मनुष्य दूसरे मनुष्य से अपने भीतर और अपने मुख पर पर्दा और मुखौटा लगाने को विवश है। इस पर्दे और मुखौटे को उतारकर उसे फिर सामाजिक बनाना, यह नाट्य प्रस्तुति का एक मुख्य कार्य है।

हमारे पारंपरिक नाट्य में इस पर्दे और मुखौटे को हटाने के उद्देश्य से ही 'पूर्वरंग' का इतना व्यापक विधान है। व्यक्ति को मनुष्य, फिर उसको सामाजिक बनाना कोई साधारण कर्म नहीं है। सारा 'पूर्वरंग' अनुष्ठान मनुष्य को दर्शक रूप में ग्राहक बनाने का ही महत्त्वपूर्ण प्रयास है। बिना दर्शक की मनःस्थिति या भूमिका निर्मित किये हुए नाट्य प्रस्तुति का शुभारंभ कैसे हो सकता है? [illegible] हम कैसे और क्यों भूल गया?

हमारे अपने नाट्य प्रस्तुतिकरण के प्रारंभ में एक औपचारिक रंग विधि-विधान का अनुष्ठान किया जाता है। पहले नगाड़ा बजाकर नाटक प्रारम्भ होने की सूचना दी जाती, फिर गायक और वादक रंगभूमि में आकर यथास्थान बैठ जाते, संगीत प्रारम्भ होता, मृदंग, वेणु, वीणा आदि वाद्य नर्तकों (अभिनेताओं) के नूपुर झंकार के साथ बज उठते हैं, और इसके बाद नाटक के पूर्वरंग का उपक्रम होता है। उसके एक पार्श्व में भृंगार में जल लिये हुए एक [illegible] होता दूसरी ओर

जर्जर (ध्वज) लिये हुए एक दूसरा जर्जधर, इन दोनों को पारिपार्श्विक कहते हैं।

इन दोनों के साथ सूत्रधार मंच से पांच पग बढ़कर, बिलकुल दर्शकों के समीप आता है, जहां जर्जर अर्थात् सृष्टिकर्ता की पूजा होती है। इन पांच पग बढ़ने के लिए एक विशेष प्रकार की अभिनयमुद्रा होती है। फिर वह भृंगार अर्थात् जल लेकर आचमन प्राणायामादि से पवित्र हो लेता है और विघ्न को जर्जर करने वाले ध्वज को उत्तोलित करता है। तब भिन्न-भिन्न देवताओं को प्रणाम करता है। वह दाहिने पैर के अभिनय से शिव को, वाम पद के अभिनय से पार्वती को प्रणाम करता है। पहला पुरुष का, दूसरा स्त्री का पद समझा जाता है। एक नपुंसक पद भी होता है। उसे प्रणाम देने के लिए दाहिने पैर को नाभि तक उत्क्षिप्त कर लिया जाता है। इस भंगिमा से वह ब्रह्मा को प्रणाम करता है। फिर विधिपूर्वक नाना प्रकार के पुष्पों से जर्जर की पूजा करता है। फिर वाद्य-यंत्रों की भी पूजा और नान्दी पाठ होता है। प्रत्येक शुभकांक्षा को समाप्ति पर पारिपार्श्विक आर्य एवमस्तु कहकर समर्थन करते हैं और तब नान्दी पाठ समाप्त होता है।

इसके बाद वह श्लोक पाठ होता है, जिसमें जिस देवता की विशेष पूजा के अवसर पर नाटक खेला जा रहा होता था जिस उत्सव पर नाटक हो रहा होता है, उनकी स्तुति होती। तब चारि नृत्य शुरू होता था। चारि का प्रयोग पार्वती की प्रीति के उद्देश्य से किया जाता था। क्योंकि पूर्वकाल में कभी शिव ने इस विशेष भंगी से पार्वती के साथ क्रीड़ा की थी। चारि के बाद महाचारि, फिर प्ररोचना होती, जिसमें नाटक की विषयवस्तु आदि सभी बातें बता दी जातीं। इस तरह जब न दर्शक में आये हुए सभी मनुष्य व्यक्ति से सामाजिक, ग्राहक और दर्शक हो जाते और उनकी मनःस्थिति में एक विशेष भावात्मकता का अवतरण हो जाता तब नाट्य प्रस्तुति शुरू होती।

वर्तमान समय में मनुष्य जब उत्तरोत्तर व्यक्ति से भी आगे 'इन्डिविजुअल' (अविभाज्य इकाई) होता चला जा रहा है तो उसके लिए किसी प्रस्तुतिकरण का दर्शक या साक्षीदार बनना कैसे संभव है? इसके लिए अनिवार्य है कि मनुष्य का प्रतीति और साक्षात्कार उसकी परंपरा में कराया जाय न कि उसके व्यक्तित्व में। दूसरे शब्दों में आज के व्यक्ति का दर्शक बनाने के लिए यह कठोर प्रयत्न किया जाना चाहिए कि उसका यह भ्रम, ओढ़ा हुआ झूठ किसी तरह टूटे कि कोई भी अनुभव और अनुभूति निजी और व्यक्तिगत होती है। यह तभी संभव है जब व्यक्ति को उसकी परंपरा, उसकी सनातनता, उसकी संस्कृति (धर्म) से जोड़ दिया जाये। इसके लिए आवश्यक है कि वर्तमान के ही संदर्भ में परंपरा से उसको जोड़ा जाय। मनुष्य अगर परंपराहीन है, विश्वास और आस्थाहीन है, दृश्य से प्रत्यक्ष में अदृश्य और अप्रत्यक्ष (हमारी

जर्जर (ध्वजा) लिये हुए एक दूसरा जर्जर, इन दोनों को पारिपार्श्विक कहते हैं।

इन दोनों के मध्य सूत्रधार मंच से पांच पग चलकर, बिल्कुल दर्शकों के समीप आता है, जहां ब्रह्मा वाली पुष्पिकाओं की पूजा होती है। इस मंच पर चलने के लिए एक विशेष प्रकार की अभिव्यंजना होती है। फिर वह सूत्रधार भृंगार में जल लेकर आचमन प्रोक्षणादि से पवित्र हो लेता है और विघ्न को नष्ट करने वाले ध्वज की अर्चना करता है। तब भिन्न-भिन्न देवताओं को प्रणाम करता है। वह दाहिने पैर के अभिनय से शिव को, वाम पद के अभिनय से पार्वती को प्रणाम करता है। क्योंकि पुरुष का दाहिना स्त्री का वाम पद समझा जाता है। एक नपुंसक पद भी होता है जो प्रणाम देने के लिए दाहिने पैर को नाभि तक उठाकर किया जाता है। इस भंगिमा से वह ब्रह्मा को प्रणाम करता है। फिर विधिपूर्वक चार प्रकार के पुष्पों से जर्जर की पूजा करता है। फिर वाद्य-यंत्रों की भी पूजा और मंत्र नान्दी पाठ होता है। प्रत्येक पुष्पांजलि को समर्पित कर पारिपार्श्विक लोग एव-मस्तु कहकर अभिनन्दन करते हैं और तब नान्दी पाठ समाप्त होता है।

उसके बाद यह त्रिगत पाठ होता है, जिसमें जिस देवता की विशेष पूजा के अवसर पर नाटक खेला जा रहा होता या जिस उत्सव पर नाटक हो रहा होता है, उसकी स्तुति होती। तब चारि नृत्य शुरू होता था। चारि का प्रयोग पार्वती की प्रीति के उद्देश्य से किया जाता था। क्योंकि पूर्वकाल में कभी शिव ने इस विशेष भंगी से पार्वती के साथ क्रीड़ा की थी। चारि के बाद महाचारि, फिर प्ररोचना होती, जिसमें नाटक की विषयवस्तु आदि सभी बातें बता दी जातीं। इस तरह जब प्रेक्षागृह में आये हुए सभी मनुष्य व्यक्ति से सामाजिक, ग्राहक और दर्शक हो जाते और उनकी मनःस्थिति में एक विशेष ग्रहणात्मकता का अवतरण हो जाता तब नाट्य प्रस्तुति शुरू होती।

वर्तमान समय में मनुष्य जब उत्तरोत्तर व्यक्ति से भी आगे 'इंडिविजुअल' (अंतिम इकाई) होता चला जा रहा है तो उसके लिए किसी प्रस्तुतिकरण का दर्शक या साक्षीदार बनना कैसे संभव है? इसके लिए अनिवार्य है कि मनुष्य को प्रतीति और साक्षात्कार उसकी परंपरा से कराया जाय न कि उसके व्यक्तित्व से। दूसरे शब्दों में आज के व्यक्ति को दर्शक बनाने के लिए यह कठोर प्रयत्न किया जाना चाहिए कि उसका यह भ्रम, जो टूटा हुआ शून्य किसी तरह टूटे कि कोई भी अनुभव और अनुभूति निजी और तात्कालिक होती है। यह तभी संभव है जब व्यक्ति को उसकी परंपरा, उसकी मनःचेतना, उसकी संस्कृति (धर्म) से जोड़ दिया जाय। इसके लिए आवश्यक है कि वर्तमान के ही संदर्भ में परंपरा से उसको जोड़ा जाय। मनुष्य अगर परंपराहीन है, विश्वास और आस्थाहीन है, दृश्य से प्रत्यक्ष से अदृश्य और अप्रत्यक्ष (हमारी

नहीं बल्कि अपने पूर्वजों के गहरे संस्कारों से (अदृश्य, गूढ़, अप्रत्यक्ष हैं) से जुड़ा हुआ है, भिन्न है तो वह कभी भी व्यक्ति से दर्शक नहीं हो सकता। वह सदा व्यक्ति में 'इंडिविजुअल' बना रहेगा, वह सबसे और दुनियादारी तौर पर अपने आप से अजनबी रहेगा।

दर्शक होने के लिए एक समान भूमि, एक समान आकाश, ये दोनों तत्व अनिवार्य हैं, अर्थात् 'हम कहीं से हैं', 'किसी के हैं', और कहीं साथ में रहे हैं। यह वो किसी एक जगह का होना है, जहां व्यक्ति का नाता और पूर्वजों की नींव बनता है, और उस व्यक्ति से हम दर्शक बना सकता है।

[illegible] है। क्योंकि तो कोई अपनी धरती, कोई अपना आकाश नहीं रह जाता, केवल एक [illegible] अपना अस्तित्व का अनिवार्य [illegible] रहता है। यहीं एक उपनिवेशी [illegible] में अंग्रेज [illegible] को अपने अनुकूल मिला, और उस भूमि में परिवर्तन [illegible] किया। केवल आंशिक रूप से [illegible] पर दूसरी बार में स्वभावतः वह भी छूट जाए।

अब हम भारतीय संदर्भ में [illegible] यह है कि [illegible] की अपनी [illegible] और विश्वास से भर जाए।

हमारे अपने नाटकों में जो प्रस्तुतिकरण कला विद्यमान है, विशेषकर अभिनय में अभिनय, नृत्य और नृत्य, भाषा, [illegible] और [illegible] का जो इतना प्राधान्य है उसके पीछे यही रहस्य है कि मनुष्य को अपनी सीमित दुनिया से असीमित दुनिया में [illegible] ले जाया जाए [illegible]। वो लोगों और लोक द्वारा एक ऐसे जगत में ले जाता है, जहां सब समान हैं, सब एक ही आकाश के नीचे एक ही धरती पर विराजमान एक समान मनुष्य हैं।

जब हम परंपरा, श्रद्धा और विश्वास को खो चुके हैं, और अपनी भूमि और आकाश का प्रश्न छोड़ते हैं, तो यह सवाल उठता ही है कि आधुनिक रंगमंच नहीं रंगमंच में जिसे प्रस्तुतिकरण नहीं प्रदर्शन का रूप कोई व्यक्ति बना तो वह व्यक्ति (भीड़) ही रहकर उसको देख सकेगा। यह तमाशा भर का ही रूप है। [illegible] और अपने अस्तित्व की [illegible] में [illegible] व्यक्ति भला दर्शक कैसे हो सकता है?

आज का अकेला व्यक्ति (इंडिविजुअल) जब भी कुछ देखने जाएगा, चाहे वह नाटक हो, चाहे उसको होने वाली [illegible] हो या कोई सामान हो, वह स्वभावतः इन सबको एक उपभोक्ता भाव से ही देखने को मजबूर है। यह उसके संस्कार में है कि वह अकेला है, अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए [illegible] है, इसलिए हर चीज उसके लिए एक उपभोग्य पदार्थ है। [illegible] यह जो भूख और भय का बुनियादी भाव है, इससे वह कभी दर्शक हो ही नहीं सकता। उसे संभवतः एक क्षण के लिए भी अपने निजी सपनों, अस्तित्व संकट का विस्मरण हो ही नहीं पाता।

घिरे हुए मनुष्य अपने अस्तित्व के लोप होने का भय है, वह सबके साथ एकाकार कैसे हो सकता है? एकाकार हुए बिना कोई दर्शक नहीं हो सकता। और दर्शक के बिना [illegible] प्रस्तुतिकरण संभव नहीं। दर्शक बिना प्रदर्शन ही संभव है। प्रदर्शन [illegible] बल का होता है, असली भाव का नहीं।

आज का शहरी सिनेमा [illegible] आर्थिक दृष्टि से संपन्न व्यक्ति हो और वह भी प्रायः 'मौज' के लिए नाट्यप्रदर्शन देखने आते हैं, उनके [illegible] और बाहर के बीच एक अदृश्य खाई खुदी होती है। वे बाहर से जितने संपन्न होते हैं भीतर से उतने ही कंगाल। बिना कमाया हुआ धन और बेमतलब की घुमक्कड़ी [illegible] वाले जीवन की यह स्थिति है जहाँ से कोई व्यक्ति सामाजिक होना ही नहीं चाहता। इस [illegible] का सारा ध्यान अपने पर ही केंद्रित है। [illegible] धन, नियम और विवेक [illegible] हुआ है, उसे स्वभावतः [illegible] नहीं [illegible] सकता। [illegible] बैठा हुआ वह कभी सहधर्मी नहीं होगा। [illegible] अहंकार में कैद रहेगा।

प्रस्तुतिकरण के मूल में पूरे समूह की कल्पना अनिवार्य है। निर्देशक के व्यक्तित्व में अगर वह समूह, समाज [illegible] नहीं है तो उसका प्रस्तुतिकरण कभी भी दर्शक सापेक्ष नहीं हो सकता। वह प्रदर्शन मात्र होकर रह जाएगा। वह कितना भी टीमटाम, चटक-मटकपूर्ण क्यों न हो, वह प्रभाव शून्य ही रहेगा। असली प्रस्तुतिकरण वह है जो व्यक्ति को दर्शक बना दे। असली दर्शक वह है जो 'एक्टर' को अभिनेता बना दे। 'एक्टर' माने जो कोई 'एक्ट' कर रहा है, अर्थात् नाटककार और निर्देशक ने उसकी भूमिका के अनुसार जो काम उसे दिया है, और जो वह कर रहा है, वही करने वाला 'एक्टर' है। पर उसके विपरीत अभिनेता वह है जो [illegible] का अभिनय करते हुए अपने साथ दर्शकों को [illegible] ले जा रहा है। 'एक्टर' में कार्य प्रधान है, अभिनय में संकेत और अभिनय प्रधान है। उसकी [illegible] संकेतों से पूर्ण अभिव्यक्तियाँ हैं।

रंगभूमि का प्रस्तुतिकरण नया-नया प्रयोग होते हुए भी सदा पारंपरिक होता। आजकल के निर्देशक प्रायः प्रयोग को परंपरा से विच्छिन्न मानकर चलते हैं, यह उनका [illegible] अज्ञान है। प्रयोग शब्द का अर्थ है [illegible], अर्थात् विशेष प्रकार का योग। इसी योग के ही संदर्भ में हमारे यहाँ प्रत्येक प्रस्तुति को प्रयोग माना गया है। उस तरह प्रत्येक प्रस्तुति, जो रसभाव और विज्ञान पर आधारित है वह नित नूतन होगा। [illegible] अद्भुत [illegible] होगा।

जो लोग प्रयोग को परंपरा से विच्छिन्न मानकर प्रयोगवादी कार्य का अहंकार दिखाते हैं, उनका प्रत्येक प्रदर्शन स्वभावतः उनके पहले प्रदर्शन की नकल पुनरावृत्ति होगी। [illegible] प्रदर्शन, उनके अहंकार का ही द्योतक होगा। अहंकार में व्यक्ति आकृष्ट होता है। व्यक्ति उस अहंकारपूर्ण प्रदर्शन को एक दिल-बहलाव,

तथा मनोरंजन मात्र समझकर उसे भूल जाता है। इसके उदाहरण में राष्ट्रीय-नाट्य विद्यालय के निर्देशक इब्राहिम अल्काजी का नाम लिया जा सकता है और उनके सभी शिष्यों के भी नाम।

इस प्रस्तुतिकरण अपने मूल स्वभाव में एक कला है। कला की अपनी एक विशिष्ट परम्परा है। हर परम्परा का अपना निश्चित उद्देश्य और मर्यादाएं हैं। रंगभूमि नाट्य के तात्विक श्रद्धा भाव के साथ हम जुड़े व्यक्ति हैं, जिन्हें एक गौरवपूर्ण विश्वास के साथ इस कला का अभिन्न अंग होना पड़ेगा। यह भाव है, जहाँ रंगशाला में आया हुआ प्रत्येक व्यक्ति अपने आप में एक दूसरा जन्म लेता है। वह जन्म, जब व्यक्ति अपनी सीमा से मुक्त हो दर्शक होता है। वह जन्म, जब व्यक्ति अपने अहंकार की सीमा से परे जाकर दूसरों से जुड़ता है, अर्थात् नागरिक होकर सामाजिक होता है। इस संदर्भ में प्रत्येक अभिनेता द्विज (दूसरा जन्म) होता है वह चाहे किसी जाति या वर्ग का क्यों न हो। द्विज होने का अर्थ है उत्तम एक नए मनुष्य का अवतरण। इस बात का तर्क यह है कि जहाँ अपनी सीमा से बाहर निकलकर सब स्वीकार कर लिया जाता है, वहीं स्थापना हो जाता होता है, और वहीं स्तुति, प्रस्तुति है, शेष सब प्रदर्शन है।

संदर्भ

1. [illegible]
2. [illegible]

समापन

पिछले पृष्ठों में जो कुछ मैं विचार कर सका, वह इसलिए कि अपने समाज के नाट्य जीवन और रंगमंच की सच्चाई को अपनी आँखों से देखा और अनुभव किया। लिखने का प्रयत्न भी इसी विश्वास से किया कि दूसरों के लिए भी इस सच्चाई की उपादेयता है। इसी समझ से लगा कि यह अनुभव बाँटे बिना नहीं रहा जाएगा।

यह रंगभूमि-अनुभव सबको परस्पर जोड़ने के लिए है।

जैसे ड्रामा-थियेटर का अनुभव सबको परस्पर तोड़ने के लिए है।

रंगभूमि अपनी संस्कृति की है। उसमें वह स्वतः और भीतर से उपजा हुआ है।

ड्रामा-थियेटर (वर्तमान रंगमंच और नाटक) हम पर बाहर से सुनियोजित ढंग से लादा हुआ है।

प्रश्न है, रंगभूमि जिस समाज, देश, काल की वस्तु है, वह समाज, देश और काल तो वर्तमान में है नहीं। वह तो एक समग्र-संपूर्ण जीवन दर्शन, जीवन अधिष्ठान का समग्र-संपूर्ण रूप था। वह एक जीवन मूल्य था। आज रंगमंच (थियेटर) की सामान्य धारणा से उसका क्या संबंध?

हमारा उत्तर यह है। मूल्य दो प्रकार के होते हैं। एक चरम दूसरा साधनात्मक। अर्थात् एक साध्य, जो स्वयं अपने लिए कामना का विषय होता है। अभिप्राय यह है कि जीवन का चरम मूल्य या साध्य स्वयं जीवन ही होता है। लेकिन जीवन कोई स्थिर वस्तु नहीं है। उसमें देश-काल परिस्थिति-अनुसार निरंतर परिवर्तन होता रहता है। परिवर्तन से ही साधनों में भी स्वभावतः परिवर्तन होता चलता है। साधनों के परिवर्तनों के ही कारण बीते हुए जीवन प्रकार अथवा जीवन

समापन

पिछले पृष्ठों में जो कुछ सोच-विचार कर सके, वह इसलिए कि हमने समय के नाट्य जीवन और रंगमंच की सच्चाई को अपनी आँखों से देखा और अनुभव किया। निश्चय का प्रयत्न भी इसी विश्वास से किया कि दूसरों के लिए भी इस सच्चाई की उपादेयता है। इसी समझ से लगा कि यह अनुभव बाँटे बिना नहीं रहा जाएगा।

यह रंगभूमि-अनुभव सबके परस्पर जुड़ने के लिए है।

जैसे ड्रामा-थियेटर का अनुभव सबको परस्पर तोड़ने के लिए है।

रंगभूमि अपनी संस्कृति की है। उसमें वह स्वतः और भीतर से उपजा हुआ है।

ड्रामा-थियेटर (वर्तमान रंगमंच और नाटक) हम पर बाहर से सुनियोजित ढंग से लादा हुआ है।

प्रश्न है रंगभूमि जिस समाज, देश, काल की वस्तु है, वह समाज देश और काल तो वर्तमान में है नहीं। वह तो एक समग्र-सम्पूर्ण जीवन दर्शन, जीवन-अधिष्ठान का समग्र-सम्पूर्ण रूप था। वह एक जीवन मूल्य था। आज रंगमंच (थियेटर) की सामान्य धारणा से उसका क्या संबंध?

हमारा उत्तर यह है। मूल्य दो प्रकार के होते हैं। एक चरम, दूसरा साधनात्मक। अर्थात एक साध्य, जो स्वयं अपने लिए कामना का विषय होता है। अभिप्राय यह है कि जीवन का चरम मूल्य या साध्य स्वयं जीवन ही होता है। लेकिन जीवन कोई स्थिर वस्तु नहीं है। उसमें देश-काल परिस्थिति-अनुसार निरंतर परिवर्तन होता रहता है। परिवर्तन से ही साधनों में भी स्वभावतः परिवर्तन होता चलता है। साधनों के परिवर्तनों के ही कारण बीते हुए जीवन प्रकार अथवा जीवित

क्योंकि हमारा लक्ष्य नहीं होता। शास्त्रों के अनुसार फिर भी हमारा लक्ष्य वह जीवन होता है जो हमारी आत्मा के लिए प्रिय होता है। परिवर्तित देश काल परिस्थिति-अनुसार कर्म करने से जो मानव उपलब्ध होते हैं, उन सभी का भी लक्ष्य वही होता है जो हमारे लिए मंगलदायक और सुखमय है। इस विचारणा से यह निष्कर्ष निकलता है कि नाट्य तत्त्व या नाट्य हमारे वर्तमान जीवन-व्यापारों से बंधे हैं, जो आज भी कल्पना करने योग्य दिखाई देते हैं।

रंगभूमि यहाँ भावना का विषय है। हम कितना भी वर्तमान में क्यों न रहें, और हमें रहना ही है, इसके अलावा हमारे पास कोई अन्य विकल्प नहीं है। इसके बावजूद जो हमारा है और हमारी संस्कृति के भीतर से स्वतः उपजा है, उस रंगभूमि, उसके गहरे रूप के प्रति अनिवार्य रूप से हमें सचेत रहना चाहिए। क्योंकि अतीत जीवनावस्था का भी हम अनुभव ही कर सकते हैं और न उसकी कामना ही कर सकते हैं।

औपनिवेशिक कारणों से हमारी अपनी जीवनावस्था में ही पश्चिम ने अपना रूप और विवेक हम पर आरोपित किया।

हमें आवश्यक रूप से आरोपण की तरफ सचेत रहना चाहिए और इसका विवेक से स्वभाविक जो हमें अनेक तरह प्राप्त हुई है, उसे स्वीकार कर लेना चाहिए। यही तो जीवन की पहचान है। जीवन, जो अपनी जड़ों से जुड़ा हुआ है।

वर्तमान का रूप विवेक चूंकि हम पर आरोपित है, और इस आरोपण का हम पर पूरा प्रभाव है, जो वर्तमान रंगकर्म की विधियों और व्यापारों में सर्वत्र प्रकट है जिसमें न हमारा आलापन है न हमारी विधियाँ, वस्तुओं तथा व्यापारों के विभिन्न पहलुओं का समावेश है। यह सच है कि जिस रूप में हमारी रंगभूमि की ऐतिहासिक काल क्रम में उसकी स्थापना थी, वह आज के पूर्णतः परिवर्तित समय और परिस्थितियों में संभव नहीं है। पर अपनी रंगभूमि की मूल्यवान सचेत रचनाओं और उसके सौंदर्य का ज्ञान और अनुभव हमारे लिए अत्यंत आवश्यक है। आज वर्तमान में आने उसी ज्ञान के आलोक में वर्तमान रूप में वे वस्तुएं तथा व्यापार हमें कुछ ऐसा अद्भुतपूर्ण संस्कार दे सकती हैं, जिससे हम अपने जीवन-व्यवहार में आरोपणों से मुक्त होकर अपनी भूमि पर अपने रूप को अर्जित कर सकते हैं।

इसी संदर्भ में पूर्णतः वर्तमान में रहते हुए मुझे जिस रंगभूमि की सौंदर्य चेतना प्राप्त हुई है, उससे हमारे लिए सार्वभौम संवेदना की अतिवास्तविक अर्थवत्ता प्राप्त हो सकती है, ऐसी मेरी आस्था है।

जितना मेरा अनुभव है, उसमें विवेक का प्रभाव गहरा नहीं [illegible] कि थोड़े से जीवन खंड पर ही पड़ता है और नाट्यकर्म इसके अभाव में अधूरा है।

भरत की नाट्यभूमि की कल्पना, एक ओर से दूसरी शताब्दी [illegible] शताब्दी से, दूसरी ओर से [illegible] में अपने मूल केंद्र से अलग होकर देश के सीमांतों पर अपनी प्राणवत्ता [illegible] के साथ आज भी जीवित है। निःसंदेह रंगभूमि और नाट्य की परंपरा अब भी विद्यमान है। इसी भारतभूमि का स्मरण कर मैंने यह सब जाना और अनुभव किया है।

हमारे जनपदों के गाँवों में जिस धर्म और द्वार की कल्पना आज भी जीवित है, उसमें रंगभूमि का वही रूप, अपने परंपरागत रूप में हो या नहीं, [illegible] के सारे गाँवों को लिए हुए [illegible] विद्यमान है। घरों के [illegible] में [illegible] दीपक अवश्य जलाया जाता है। जिस अग्नि को ऋग्वेद में द्वार खोलने वाला माना गया है, उसी आग का [illegible] में रहने के बावजूद पर-परिवार का स्थान माना गया है। चाहे आज उस आग का इस्तेमाल बीड़ी जलाने, चिलम फूँकने या हुक्का गुड़गुड़ाने के लिए क्यों न किया जाता है। आग जो रंग के अंदर है, उसे बार-बार बाहर लाना और उसका जीवन में प्रयोग करना यह क्या रंगभूमि का अपना प्रयोग नहीं है?

हमारे घरों में आग के लगातार जलने की आज भी [illegible] हैं कि "[illegible] की धूनी" जल रही है क्या?

जीवन की द्वार खोलने वाला और अंधकार (तमस) को [illegible] हटाने वाला माना गया है। रंगभूमि का आत्मज्ञान ही हमारा नाट्य हमें वापस देगा। वहाँ हमारे नाट्य सृजन में अपनी [illegible] और [illegible] की [illegible] का स्मरण [illegible] ही यह आत्मविश्वास देगा कि हम सच्चे अर्थ में स्वतंत्र होकर अपने नाट्य-कर्म [illegible] बन गये।

रंगभूमि सोचने वाली है, जो काल [illegible] कर [illegible] फिर भी [illegible] रहे। आज के भारतीय नाट्य प्रकार का यही दायित्व है कि जो बिखरा हुआ है उसकी जानकारी से वह [illegible] का अधिकार जोड़े।

रंगभूमि [illegible], जनरुचि की अनदेखी, नाट्य, मंच, पात्र आदि का अनुशीलन [illegible] नहीं है।

मुझे भूत में कोई विश्वास नहीं है। मेरा दृढ़ विश्वास है, जैसा कि मैंने प्रारंभ में ही कहा है कि [illegible] कहीं भी [illegible], [illegible] और उसके [illegible] नहीं सकता है, जिसमें कि कोई अनुभव-कला [illegible] न हो, जो

सम्पन्न करता है ? क्या मन के लिए यह संभव है कि वह पूर्णतया सभी तर्कनाओं को, अनुभवों को, आदर्शों को, शास्त्रों को एक ओर कर दे जिससे कि वह एक वास्तविक रिक्तता की अवस्था में आ सके ? यह स्वाभाविक है कि हम आज इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकेंगे, हमारे लिए यह एक असंभव प्रश्न है क्योंकि हमने इस दिशा में कभी प्रयत्न नहीं किया । परंतु मेरा यह सुझाव है, जब हो जाए, अपने में यह प्रश्न होने दीजिए, यह बीज बोया जाने दीजिए, और यदि आप वास्तव में इसका मनन करेंगे और उसका औपनिवेशिक मानस से प्रतिरोध नहीं करेंगे तो उसका फल आयेगा ही अवश्य । रूपक का आदि अन्त नहीं है. इसके एक सिरे पर 'बीज' है दूसरे सिरे पर 'फल' । 'बीज' अरूप है, 'फल' रूप है । फलरूप है बीज का ।

केवल नवीन ही है जो मौलिक परिवर्तन कर सकता है, प्राचीन नहीं । यदि आप रंगभूमि के प्राचीन प्रारूप का अनुशीलन करेंगे तो कोई भी परिवर्तन, प्राचीन का केवल संशोधित सातत्य ही होगा । उसमें कुछ भी नवीन न होगा, कुछ भी नवोन्मेषशील न होगा । रंगभूमि में सर्जनशीलता और नवीनता केवल तभी संभव हो सकती है जब मन स्वयं ही नवीन हो, और मन केवल तभी नवीन हो सकता है जब वह अपनी समस्त क्रियाओं को केवल सतही स्तर पर नहीं, वरन् गहराई से देखने में सक्षम हो । जब मन स्वयं अपनी क्रियाएं देखता है, अपनी आकांक्षाओं, प्रेरणाओं, प्रवृत्तियों, आशंकाओं के प्रति सजग होता है । जब वह जानता है कि प्रतिक्रिया कैसे प्राचीन-नवीन, पूर्व-पश्चिम के आत्म-व्यक्तियों एवं आत्म वंचना की सृष्टि करता है । जब वह अपने में उस प्रतिक्रिया को देखता है, जिसकी उत्पत्ति का कारण भूत और वर्तमान के बीच द्वंद्व है ।

रंगभूमि और शिल्प इन दो में कौन ठीक है, कौन नहीं, समस्या यह नहीं है । रंगभूमि भारत का स्वरूप है । शिल्प पश्चिम का । ठीक । गलत किया । यह भी समस्या नहीं है ।

समस्या यह है कि हम अपने वर्तमान में इन दो युगों के बीच खड़े हैं ।

इसका अर्थ यही है कि लोग सभी का वरण करते हैं, जो अधिक सुविधाजनक होता है । नवीं शताब्दी के कारण इसमें से अधिकांश लोग जीवन के हर क्षेत्र की तरह विशेषकर कला और संस्कृति के क्षेत्र में प्रायः औपनिवेशिक चरित्र का है, चाहे कि कोई आधुनिकता की बात यह कहे कि यही क्या सकता है । फिर हम आँख मूंद वही करने लगते हैं ।

इस्लाम की इसी प्रवृत्ति के कारण वर्तमान रंगमंच को दूसरों के बनाए-सिखाए मार्ग में लोगों ने डाल दिया है ।

अगर नाट्य कर्म मूलतः सृजनात्मक है तो क्या दूसरों के साँचे में, उनकी शिल्प विधि में और रंग दृष्टि में यह कर्म संभव है ? विदेशी नाट्य शिल्प और रंग चेतना

मैं अपने नाटक [illegible] का कोई रचना [illegible] हो सकता है? [illegible] अनुशासन तथा अपनी बुद्धि [illegible]?

इन अनुभवों [illegible] आज जो कुछ भी लेखन है, और पश्चिम की [illegible] के बीच विरोध है। [illegible] हमारे भीतर [illegible] विरोध है [illegible] अपने प्राचीन और नवीन के बीच।

मेरा विश्वास है कि मूल आवश्यकता स्वतंत्रता है। स्वतंत्रता, जो किसी प्रतिक्रिया, दबाव, लड़ाई की देन नहीं, [illegible] अपने कर्मों से बोध प्राप्त हुई है।

केवल पश्चिम के द्वारा 'पिंजड़े' से ही नहीं, वरन् अपनी रंगभूमि को देखकर उसका बोध प्राप्त कर हम स्वतंत्र हुए हैं। अपनी रंगभूमि दृष्टि ने हमें दिखाया है कि केवल स्वतंत्रता में ही [illegible] हम हैं, हमारी जो अवस्था है, हमारी अपनी जो रंगभूमि है, उसका अन्वेषण संभव है। इस दिशा में किसी की दासता चाहे प्राचीन की हो चाहे वर्तमान की, वह स्वतंत्रता नहीं है। दासता, चाहे कैसी भी हो, वह स्वतंत्रता नहीं हो सकती। स्वतंत्रता, [illegible] दृष्टि।

एक प्रतिबद्ध मन, उसकी प्रतिबद्धता चाहे कितनी भी सद्गुणी क्यों न हो, स्वतंत्र नहीं हो सकता। फलतः वह अपने सत्यों, [illegible], [illegible] को नहीं समझ सकता।

[illegible] ने कहा है कि यदि आप किसी वस्तु की खोज में हैं तो आप स्वतंत्र नहीं हैं। अगर स्वतंत्र नहीं हैं तो सृजन संभव नहीं है।

यही स्वतंत्रता अपनी रंगभूमि की स्वतंत्रता का शुभारंभ है।

[illegible] रंगभूमि है।

स्वतंत्रता की [illegible]।

स्वतंत्रता में ही [illegible] अभिव्यक्ति संभव है। क्योंकि वहां कोई [illegible] नहीं है।

आज हम चूंकि द्वंद्व में हैं, और इसी से बचना चाहते हैं, अतः हम इसी के [illegible] जा रहे हैं। किन्तु जब हम देख लेते हैं कि द्वंद्व की प्रक्रिया क्या है, तो हम द्वंद्व की [illegible] हो जाते हैं। उसमें अपने [illegible] और अपनी भूमि [illegible] एक आंतरिक [illegible] प्राप्त कर लेती है।

[illegible] हमारी रंगभूमि अज्ञात है हमसे। और हमारा विश्वास है कि अज्ञात को स्वतंत्र होना चाहिए।

□□